संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग

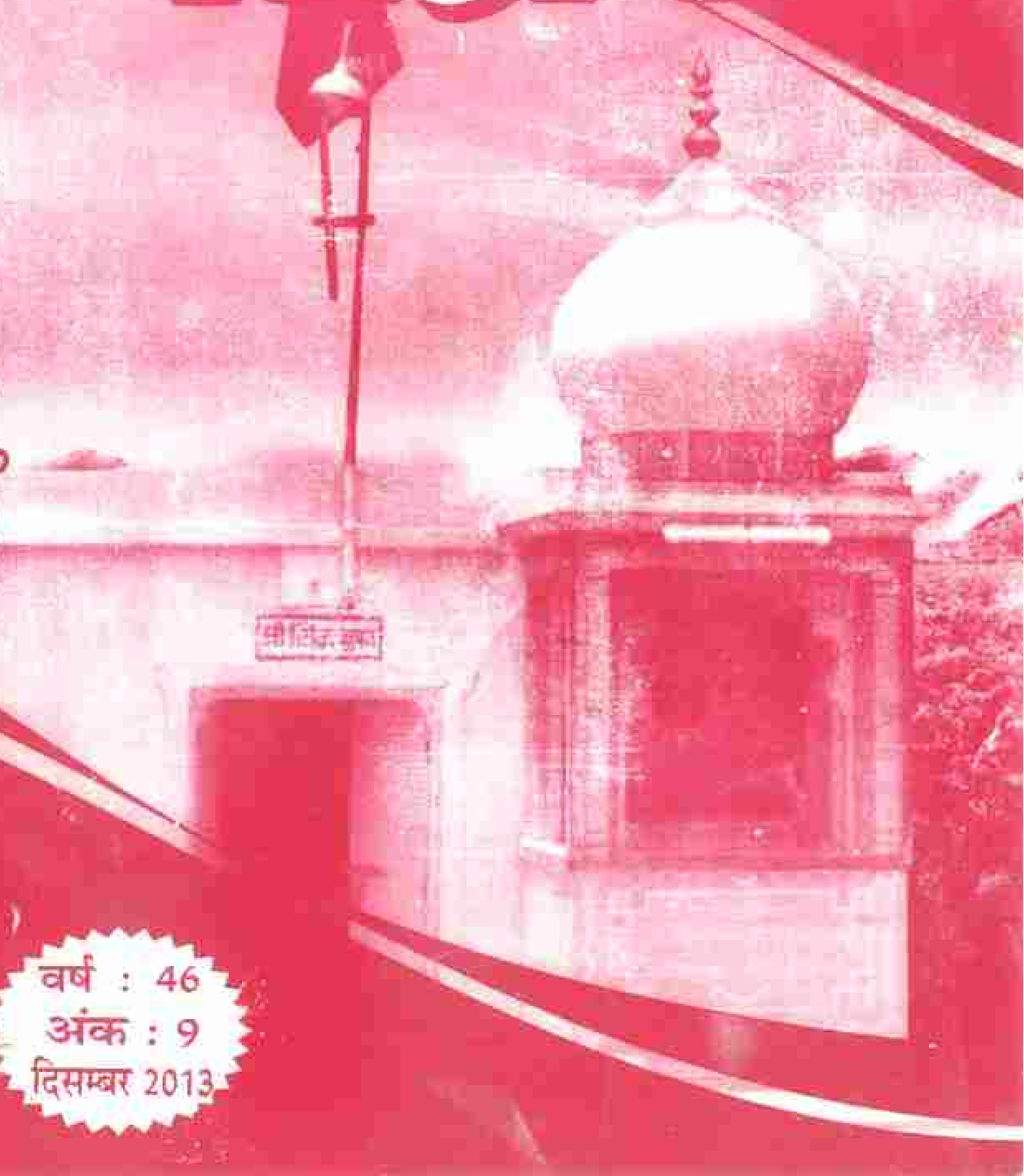

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाई-282002 (आगरा) यू.पी.

वर्ष : 46
अंक : 9
दिसम्बर 2013

अमृत कण

नादत्ते कश्चित् पापं न चैव सुकृतं विभु:।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेक मुह्यन्ते अन्तव:।।

सर्व व्यापक परमात्मा न पाप ग्रहण करता है और न पुण्य। अत: जीवों का कर्मबन्धन केवल अज्ञानमात्र है, जिसके कारण सभी जीव अपने को मोहमाया में फँसा मानते हैं।।

◆ ◆ ◆

अनाचारस्तु मालिन्यमत्याचारस्तु मूर्खता।
विचाराचार संयोग: सदाचारस्य लक्षणम्।।

(बोधसागर)

अनाचार से मनुष्य के चित्त में मलिनता होती है और आवश्यकता से अधिक आचार करना मूर्खता (या दम्भ) कहा गया है। अत: विचारपूर्वक जो आचार किया जाता है, वही सदाचार कहलाता है।

◆ ◆ ◆

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन:।।

(श्वेताश्वेतरोपनिषद् 6/23)

जिसकी परमात्मा में उत्तम भक्ति है और परमात्मा के समान ही अपने गुरु में भक्ति है, उस महात्मा को सभी पदार्थ स्पष्ट हो जाते हैं।

◆ ◆ ◆

पापेन जायते व्याधि: पापेन जायते जरा:।
पापेन जायते दैन्यं दु:खं शोको भयंकर:।।

(ब्रह्मखण्ड 16/51)

पाप ही रोग, वृद्धावस्था तथा नाना प्रकार के विघ्नों का बीज है। पाप से ही दैन्य, दु:ख तथा भयंकर शोक की उत्पत्ति होती है।

◆ ◆ ◆

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :—शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते-करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 46 दिसम्बर - 2013 अंक : 9

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन-
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/20)

इस परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप दृष्टि के सामने नहीं ठहरता। इस परमात्मा को कोई भी आँखों से नहीं देख सकता। जो साधकजन इस हृदय में स्थित अन्तर्यामी परमेश्वर को भक्तियुक्त हृदय से तथा निर्मल मन के द्वारा इस प्रकार जान लेते हैं, वे अमृत स्वरूप अमर हो जाते हैं।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज	3
2.	सम्पादकीय	9
3.	योग विद्या का स्वरूप क्या है? – डॉ. विजय सिंह	12
4.	योग–दर्शन – योगी आदित्यनाथ	15
5.	चित्तरूपी रोग की चिकित्सा...	21
6.	गुरु शरण में आजा रे बन्दे – विजय शर्मा	23
7.	सांसारिक कामनाऐं – प्रो. ऋषिराम शर्मा	25
8.	योग–आसन –प्रवासन	36
9.	अलुपुर में चन्दा – जगदीश राए बंसल	37

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 150.00
द्विवार्षिक	: रु. 280.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 900.00

• विशेष लेख

अनादि सिद्ध एवं साधन सिद्ध

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने इससे पूर्व अपने लेख में सिद्ध शब्द की परिभाषा बताते हुए हमने सउदाहरण स्पष्ट किया था कि 'सिद्ध' शब्द का आशय क्या है। और जो इस सिद्ध शब्द की परिभाषा में आते हैं, वे किस प्रकार 'कर्तु अकर्तु अन्यथा कर्तु' की क्षमता वाले सिद्ध हुआ करते हैं। अपने इस प्रस्तुत लेख में हम यह समझाने की चेष्टा कर रहे हैं कि सिद्ध कितने प्रकार के होते हैं।

इस विषय में शास्त्र–सम्मत तो यही बात सामने आती है कि मुख्यतः इनके दो भेद होते हैं – एक अनादि सिद्ध, दूसरे साधन–सिद्ध। इनमें अनादिकालीन सिद्ध वे होते हैं जो सृष्टि के आरम्भ काल से चले आये हैं। योग–दर्शन में भगवान् पतंजलिदेव ने ईश्वर का लक्षण करते हुए बतलाया है कि –

क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः।

अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इनसे बिल्कुल अपरामृष्ट पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है। वह सदा ही मुक्त है और अनन्त काल की ज्ञान–गति से सदा ही सिद्ध है। पढ़िये इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी का भाष्य –

अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः,
तदनुगुणा वासना आशयाः।

ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति, यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते, यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः। कैवल्य प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः कैवलिनः। ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्य प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैव मीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः इति, योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्नि र्निमित्त इति? तस्य शास्त्रं निमित्तय् शास्त्र पुनः किन्निमित्तं? कृष्टसत्त्वनिमित्तम्। एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्वे वर्त्तमानयोरनादि सम्बन्धः। एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्य्यं सामयातिशयविनिर्मुक्तं। न तावदैश्वर्य्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयि स्यात् तदेव तत्स्यात्, तस्माद यत्र

काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्य्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्य्यमस्ति। कस्माद्? द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तं द्वयोश्चतुल्ययोर्युगपत्कामितार्थ प्राप्तिर्नास्त्यर्थस्य विरुद्धत्वात्। तस्माद्यस्य साम्यातिशय विनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स ईश्वरः स च पुरुष विशेष इति।

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये सभी क्लेश कहलाते हैं और जिन क्रियाओं के अन्दर अच्छे और बुरे का अभाव रहता है, उनको कर्म कहते हैं और कर्मों के फल को विपाक कहते हैं और कर्म फल को अनुसरण करने वाली भावना को कामना कहते हैं और ये सभी मन में रहा करते हैं किन्तु व्यवहार में जीवात्मा के अन्दर रहते हैं ऐसा कहा जाता है। वह जीवात्मा ही इनके फलों का भोक्ता है। जैसे कहीं पर बड़ी भारी लड़ाई हो रही हो और किसी पक्ष के सिपाही लड़ाई करने वाले जीत जायें तो वह जीत सिपाहियों की नहीं मानी जाती, प्रत्युत उनके मालिक उस राजा की मानी जाती है जो उस देश का राजा है। यथार्थ में वह राजा इस विजय से " आ तक नहीं। इसलिए क्लेश, कर्म, विपाक आदि वर्तमान तो मन में ही रहते हैं और मन प्राकृत है, त्रिगुणात्मक है। उसका पुरुष से कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु फिर भी लोक व्यवहार में वह सुखी है वह दुःखी। इस प्रकार का व्यवहार आत्मा के लिए देखने में आता है वस्तुतः तो सुख-दुःख, क्लेश-कर्म-विपाक् आदि का विषय मन और बुद्धि का है। इसी कारण से वह अनादि-काल से ही परम-सिद्ध ईश्वर क्लेश-कर्म-विपाक् आदि के भोगों से अपरामृष्ट है।

यहां पर कोई एक प्रश्न पैदा करता है कि बहुत से केवली लोग इस प्रकार के हैं, जो क्लेश, कर्म, विपाक् आदि से छूटकर एवं तीनों बन्धनों को काटकर मुक्ति को प्राप्त हो गये हैं। ये लोग भी क्लेश, कर्म, विपाक आदि से अपरामृष्ट हैं। इनको भी ईश्वर क्यों नहीं माना जाता? उत्तर – इसका यह है, कि ऐसे लोग पहले तो बन्धन-कोटि में ही थे, किन्तु अपने साधन बल से बड़े भारी पुरुषार्थ के बाद वे लोग तीन बन्धनों से छूट गये हैं। इसी प्रकार कुछ ऐसे लोग होते हैं जो शुरू से ही प्रकृतिलीन चले आते हैं। उनकी भी कालान्तर में बन्ध-कोटि की सम्भावना ही की जा सकती है पर ईश्वर के साथ इन तीन बन्धनों का सम्बन्ध नहीं है वह ईश्वर तो सदा ही ईश्वर है और सदा ही मुक्त है।

प्रश्न – ईश्वर का प्रकृष्ट सत्वोपादानादि शाश्वतिक उत्कर्ष किसी कारण को लेकर है, या बिना कारण के है ?

उत्तर – उस ईश्वर के उस प्रकृष्ट सत्वोपादानादि का कारण शास्त्र है एवं शास्त्र का कारण प्रकृष्टसत्व है। इन कृष्टसत्वादि और शास्त्रोत्कर्ष आदि का अनादि सम्बन्ध है।

इसलिए वह ईश्वर सदा ही मुक्त है एवं सदा ही ईश्वर है। उसका ऐश्वर्य "सम्यातिशय–विनिर्मुक्त" है, क्योंकि उस ईश्वर के समान कोई और सर्वशक्तिमान नहीं है। उदाहरण में इस बात को इस प्रकार से समझ लीजिए कि किसी एक वस्तु के लिए दो की यह भिन्न–भिन्न प्रकार की कामना है – एक कहता है कि यह वस्तु नयी हो जाये और दूसरा कहता है कि नहीं, यह वस्तु पुरानी ही रहनी चाहिए। इसलिए इस विषय में विवाद रहने पर एक की कामना पूर्ण नहीं होगी और दूसरे की पूरी हो जायेगी। इस प्रकार एक की कामना का विघात् हो गया और दूसरे की कामना पूर्ण हो गई। इसलिए जिसका ऐश्वर्य *'साम्याति–शयविनिर्मुक्त'* है। अर्थात् जिसकी शक्ति से बढ़ करके और किसी की शक्ति नहीं है वही ईश्वर है और उस ईश्वर का ऐश्वर्य सदा सर्वदा रहने वाला है। इसीलिए यह कहा गया है कि –

य देवातिशायी, शैव ईश्वरः

अर्थात् जो सबके ऐश्वर्यों का अतिक्रमण कर गया है वही ईश्वर है और अनादि काल की ज्ञान–गति से स्वतः ही सिद्ध है। उसको शक्ति प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार की कोई साधना नहीं करनी पड़ी, इसलिए ईश्वर को अनादि–सिद्ध माना गया है, इसलिए ईश्वर कोटि में वर्तमान भगवान ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं भगवती महा–माया दुर्गा और कपिलादि मुनि ये सबके सबही अनादिकालीन महासिद्ध हैं। इन सबको कभी किसी प्रकार की साधना करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। इसलिए इनमें से किसी का भी कहीं अवतरण होता है या ये लोग कोई कार्य विशेष करना चाहते हैं तो वह काम अपनी अनादिकालीन शक्ति के द्वारा जो शक्ति इनके शाश्वतिक उत्कर्ष के साथ अनन्त काल से है ही है किया करते हैं। इसलिए इनको अनादिकालीन महासिद्ध माना जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण अपनी श्रीमद्भगवद्गीता के अन्दर स्वयं अपने आपको पुरुषोत्तम स्वीकार कर रहे हैं –

द्वाविमो पुरुषौ लोके, क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः, परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविस्य, विभर्त्यव्यय ईश्वरः।।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहम क्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदो च, प्रथितः पुरुषोत्तमः।।

अर्थात् अर्जुन को उपदेश करते हुए भगवान श्रीकृष्ण अपने मुखारविन्द से कह रहे हैं कि हे अर्जुन! संसार में दो पुरुष हैं – एक क्षरात्मक और दूसरा अक्षर। क्षर तो ये सभी पंच

महाभूत हैं और कूटस्थ जो जीवात्मा है, वह अक्षर कहलाता है और उत्तम पुरुष इन दोनों से भिन्न है, जो सर्व व्यापक तीन लोक का पालन–पोषण करता है, उसी का नाम परमात्मा है। इसलिए हे अर्जुन! मैं क्षर और अक्षर दोनों से परे पुरुषोत्तम कहलाता हूँ। पुरुषोत्तम में एवं पुरुष विशेष में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण एवं ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि सभी अनादिकालीन महासिद्ध हैं और इन सभी का ऐश्वर्य "साम्यातिशयविनिर्मुक्तः"। इसके अतिरिक्त दूसरी प्रकार के वे सिद्ध लोग हैं जो विशेष प्रकार की साधनायें करके सिद्ध हो गये हैं। वे लोग भी क्लेश, कर्म, विपाक् आदि की अपरामृष्टता को प्राप्त तो हो गये हैं, किन्तु अपनी साधना के बल से। भगवान पतंजलि देव ने अपने योग–दर्शन में कर्म जाति को चार प्रकार से माना है। उनमें से पाप–कर्म एक प्रकार के, पुण्य–कर्म दूसरे प्रकार के एवं पाप और पुण्य के मिले–जुले कर्म तीसरी प्रकार के और जो कर्म न पाप के हैं और न पुण्य के हैं, वे कर्म योगियों के कहलाते हैं। पाप–पुण्य के झमेले को छोड़कर करने मात्र के लिए जो कर्म किये जाते हैं, वे कर्म आशुक्ल एवं आकृष्ण कहलाते हैं अर्थात् इन कर्मों से पाप और पुण्य का कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। ईश्वर के साथ इन कर्मों का सम्बन्ध कभी था ही नहीं और जो लोग साधनायें करके सर्व सामर्थ्यता को प्राप्त कर गये हैं वे लोग आशुक्ल–आकृष्ण के कर्मों को प्राप्त हो गये हैं। पढ़िये योग–दर्शन में भगवान पतंजलिदेव का इस विषय का आदेश एवं व्यास भाष्य की पंक्तियाँ। इससे यह सिद्ध हो जायेगा कि योगी लोग अपने आपको क्लेश, कर्म, विपाक् आदि से अपरामृष्ट अपनी साधना के बल पर हो पाते हैं और ईश्वर के लिए कभी इस प्रकार की साधना की आवश्यकता नहीं पड़ी। इसीलिए क्लेश, कर्म, विपाक्, अपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर कह करके ईश्वर की सदा कालीन अपरामृष्टता को बतलाया और साधना करके सिद्ध होने वाले योगियों को साधन बल से प्राप्त क्लेश, कर्म, विपाक आदि की अपरामृष्टता को बतलाया। यही कारण है कि योगियों के कर्म क्रिया मात्र के पाप पुण्य रहित बतलाये हैं –

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

चतुष्यात् खल्वियं कर्मजातिः–कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्ला, अशुक्लाकृष्णाचेति, तत्र कृष्णा दुरात्मनां, शुक्लकृष्णा बहिः साधनसाध्या तत्र परपीडाऽनुग्रह द्वारेण कर्माशयप्रचयः, शुक्ला तपः स्वाध्यायध्यानवतां सा हि केवले मनस्यायत्तत्वादबहिः साधनाधीना न परान् पीडयित्वा भवति। अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति, तत्रा शुक्लं योगिन एव फलसंन्यासाद अकृष्णं चानुपादानाद्, इतरेषां तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति।"

अर्थात् इस चतुर्विध कर्म जाति के अन्दर पाप के कर्म, पुण्य के कर्म, पाप और पुण्य के मिश्रित कर्म यह तीनों प्रकार के कर्म संसार वालों के हुआ करते हैं और पाप–पुण्य रहित केवल क्रियामात्र के कर्म केवल मात्र योगियों के हुआ करते हैं क्योंकि वे लोग अपनी साधना के बल से कलेश, कर्म आदि से विमुक्त हो जाया करते हैं। योगी लोग अपनी तीव्र–साधना के आधार पर प्रसुप्त कुण्डलिनी महाशकित का उद्‌बोधन करके और साधना बल से उसको सहस्रार में ले जाकर विलीन कर देते हैं और षट्चक्रों का पूरी तरह से भेदन करके ज्ञान–विज्ञान पर पूरा अधिकार करके पूरी सामथ्य वाले हो जाया हैं। योगी अपने संयम के बल पर कितनी बड़ी ताकत वाला हो जाया करता है। वह जहाँ–जहाँ संयम करता है वहाँ–वहाँ की शक्ति को पूर्णरूपेण प्राप्त कर लेता है। पढ़िये योगी की संयम शकित को बतलाने वाला सूत्र और उस पर व्यास भाष्य की टीका–

परमाणुपरममहत्वान्तोऽस्य वशीकारः।

सूक्ष्मे निविशमानस्यपरमाणवनतं स्थितिपदं लभत इति। स्थूले निविशमा–नस्य परममहत्वानतं स्थितिपदं चित्तस्य। एवन्तामुभयीं कोटिमनुधावतो योऽस्याप्रतीघातः स परो वशीकारः। तद्वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यास–कृतं परिकर्मापेक्षत इति।।

अर्थात् जब योगी सूक्ष्म विषयों में संयम आरम्भ करता है तो सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु तक का साक्षात्कार कर लेता है और जब योगी सथूल विषयों में अपने चित्त को संयमित करता है तो परम महत्व अर्थात् मूल प्रकृति पर्यन्त का साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार से छोटे–छोटे और बड़े से बड़े विषय में संयम करता हुआ योगी अपने संयम बल को पूर्णरूपेण सिद्ध कर लेता है। फिर उसका संयम बल इतना उत्कृष्ट हो जाता है कि उसको किसी विषय के साक्षात्कार करने के लिए संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती। अपने संकल्प बल से ही वह संयम को सिद्ध करता है और जहां जहां योगी संयम करता है वहां–वहां की ताकत को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार से योगी अपने संयम समाधि के बल से पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाता है। ऐसे साधन सिद्ध योगी सर्व–सामर्थ्य वाले होते हैं। ये लोग भी क्लेश, कर्म आदि से अपरामृष्ट होते हैं किन्तु इन साधन सिद्ध लोगों में एवं अनादि सिद्धों में इतना ही अन्तर होता है कि ये लोग अपनी साधनाओं के बल पर सामर्थ्यवान होते हैं और इनका ऐश्वर्य क्योंकि शाश्वत एवं शाश्वतिक उत्कर्ष से सम्बन्ध रखने वाला होता है अतः शाश्वतिक उत्कर्ष से परिपूर्ण होता है। इनके सामर्थ्य में भी किसी प्रकार की कमी नहीं होती। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी मेरे श्री गुरुदेव जी महाराज, हिमालय की पावन कन्दराओं में निवास करने वाले साधन सिद्ध योगियों के विषय में जिक्र किया करते थे कि वे लोग अपनी–अपनी साधनाओं

के बल पर परमोत्कृष्ट बल एवं ऐश्वर्य वाले होते हैं। एवं उन सभी के अन्दर सृष्टि निर्माण सामर्थ्य भी हुआ करता है। यद्यपि वे लोग परम योगी ईश्वर के कार्यों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते हैं फिर भी यदि वे लोग चाहते हैं तो अपने संकल्प मात्र से सृष्टि–निर्माण की सामर्थ्य वाले भी होते हैं। हिमालय के अन्दर इस प्रकार के योगेश्वर बैठे हैं जिनमें से किसी ने भी क्षण–भर के लिए विचार कर लिया कि –'एकोऽहं बहुस्याम्।' इतना संकल्प मन में आते ही एक से अनेक हो जाते हैं। अपने रोम कूपों से हजारों स्त्रियों को और दूसरी ओर से अपने ही रोम–कूपों से हजारों पुरुषों को पैदा करके एक नगर जैसा बसा कर सभी लौकिक व्यवहारों का सम्पादन करने लगते हैं। उनके सृष्टि–सृजन में कोई यह जान भी नहीं पाता कि यह इतने स्त्री पुरुष कहां से पैदा हुए और कहां इनकी लीनता होगी। देखने वाले तो यही जानते हैं कि ये लोग भी हमारे–तुम्हारे ही तरह के साधारण लोग ही हैं। इस प्रकार सृष्टिविस्तार करके जब महायोगेश्वर चाहते हैं एक श्वांस के आकर्षण से अपने अन्दर सभी को विलीन भी कर लेते हैं। पाठकगण इन सब बातों में संशय न मानें। हमारा प्राचीन इतिहास भी इस बात की साक्षी देता है कि योगियों में इतनी बड़ी सामर्थ्य हुआ ही करती थी। रामचरित मानस को पढ़ने वाले लोग यह भी भली प्रकार से जानते हैं कि भरत जी महाराज जिस समय अपने मन्त्रि–मण्डल सहित एवं अतुलित सैन्य बल को साथ लेकर अयोध्या जी में राम को वापस लाने के लिए गये एवं रास्ते में भारद्वाज ऋषि के आश्रम में निवास किया तो श्री भारद्वाज जी महारजा ने अपनी अतुलित योग शक्ति से हजारों जनवासे एवं दास दासियों को और सेनाओं के निवास को भी सब उचित स्थान बना दिये। यह सब श्री भरद्वाज जी की यौगिक शक्ति का ही परिणाम था। इस ही प्रकार श्री विश्वामित्र जी का महाराजा त्रशंकु के लिए नये स्वर्ग का निर्माण करना आदि विपुल कार्य इनकी अलौकिक शक्ति के परिचायक थे। ये साधन सिद्ध योगियों के लक्षणों से युक्त थे। आजकल इस कलिकाल के समय में भी श्री गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, नैमीनाथ आदि–आदि नाथ सम्प्रदाय के एवं गोपीचन्द्र भर्तृहरि आदि पूर्ण सिद्ध योगिराज सर्व सामर्थ्यवान् सिद्धयोगी हुए हैं, जिन्होंने अपनी साधना के बल पर ही इतना ऊँचा अपने आपको उठा लिया कि उनका ऐश्वर्य देखते ही बनता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्।।

●●●

स्वास्थ्य और योग

– योगाचार्य डॉ. दासलाल ब्रह्मचारी

योग साधना में स्वस्थ शरीर की महती आवश्यकता है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' धर्म की सिद्धि में शरीर मुख्य कारण है। शरीर भी पूर्ण स्वस्थ हो तभी योग रूपी अध्यात्म-धर्म में सफलता मिल सकती है। इसलिए शरीर का स्वस्थ होना आवश्यक है।

आयुर्वेद शास्त्र में 'स्वस्थ' की निम्न परिभाषा दी गई है –

समदोषा: समाग्नि: समधातुमलक्रिया:

प्रसन्नात्मेन्द्रियमना: 'स्वस्थ' इत्यभीधीयते।

अर्थात् वात, पित्रादि दोष समान हों, सप्त धातुयें भी समान हों देहगत अग्नि समान हो, मल-मूत्र का विसर्जन व परिपाक ठीक रूप से हो, मन व इन्द्रियाँ व आत्मा प्रसन्न हो तो वह व्यक्ति स्वस्थ कहलाता है। महर्षि चरक कहते हैं – 'विकारो धातु वैषम्यम्, साम्यम् प्रकृतिरुच्यते'। धातु की विषमता ही विकार कहलाता है और साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। आचार्य सुश्रुत कहते हैं – **दोष, धातु,** मल मूलं हि शरीरम्' दोष वातादि कहलाते हैं। रस, रक्त आदि सप्त धातु **कहलाते हैं, मूत्र,** पुरीष को मल कहते हैं। वात, पित्तादि शरीर के धारक कहलाते हैं किन्तु जब यह विषमता में आ जाते हैं तो दोष कहलाते हैं, इसी प्रकार से रस रक्तादि धातु जब शुद्ध रहते हैं तो धारक कहलाते हैं और वातादि से विकृत होने पर दूष्य **कहलाते हैं। इसी प्रकार से** मल और मूत्र शरीर को धारण करने में सहायक होते हैं। इनके क्षीण व विकृत होने पर शरीर का सन्तुलन बिगड़ने लगता है। अधिष्ठान भेद से रोग भी दो प्रकार के होते हैं।

(1) शारीरिक (2) मानसिक।

शारीरिक रोग दोषों के विकृत होने पर होते हैं। मानस रोग देह में रज और तम के कारण होते हैं। सतोगुण में रोग नहीं आते। गीता में भी कहा गया है – तत्र सत्वम् निर्मलत्वात् प्रकाशक मनामयम्'। अर्थात् सतोगुण निर्मल होने के कारण प्रकाश का दाता है तथा रोगों को नष्ट करने वाला होता है। महर्षि चरक ने रोगों के तीन कारण बताये हैं। असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञा पराध व परिणाम।

चक्षुरादि पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का विषय से अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग रोग का कारण

बन जाता है। आँखों से अत्यन्त प्रकाश युक्त वस्तुओं का देखना आँख का अतियोग कहलाता है। दृश्य पदार्थों का सर्वथा न देखना रूप का अयोग कहलाता है। अतिसूक्ष्म, आँख के अत्यन्त पास के, अति दूर के उग्र भयावने अद्‌भुत, अप्रिय वस्तुओं का देखना, विकृत तथा अपवित्र रूपों को देखना आँख का मिथ्यायोग कहलाता है। इसी प्रकार से अन्य ज्ञानेन्द्रियों के विषय में भी जान लेना चाहिए। इन्द्रिय कर्म का अतियोग अयोग और मिथ्यायोग रोग का कारण बतलाया गया है। वाणी, मन और शरीर की प्रवृत्ति का नाम ही कर्म है। वाणी, मन और शरीर की प्रवृत्ति का अतियोग और मिथ्यायोग रोग का कारण है। इसको प्रज्ञापराध कहा गया है। महर्षि चरक ने लिखा है। धी (बुद्धि) धृति, निश्चयात्मिका प्रज्ञा तथा स्मृति से भ्रष्ट हुआ पुरुष जो कर्म करता है वह प्रज्ञापराध कहलाता है। यह प्रज्ञापराध सब दोषों को प्रकुपित करता है और इसी से शारीरिक व मानसिक दोष कुपित होते हैं।

''धी स्मृतिविभ्रष्ट: कर्म यत्कुरुतेऽशुभम् प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोषकोपणम्''

यह प्रज्ञा अपराध जान बूझ कर करने से रोग के रूप में इसका फल मिलता है। ''भर्तृहरियोगी वैराग्य शतक में कहते हैं - **भोगे रोग भयम्**'' भोगों में अत्यधिक संलिप्त रहने से रोगों की उत्पत्ति होती है। अतियोग को सर्वत्र त्याज्य माना गया है। ''अति सर्वत्र वर्जयेत्'' यह प्रसिद्ध उक्ति है। अंग्रेजी में भी कहावत है। 'Excess of every thing is bad'. अत: मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिए संयमित जीवन जीना चाहिए।

योग में स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए आसन प्राणायाम, षटकर्म का विधान है। महाप्रभु योगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज द्वारा आविष्कृत जीवन तत्त्व साधन सभी रोगों की अचूक जीवन दवा है। बाल-वृद्ध, रोगी, क्षीणधातु वाले तथा कमजोर व्यक्ति भी इससे निरन्तर अभ्यास से पुष्ट देह होकर स्वस्थ एवं आनन्दित जीवन यापन करता है। 'आसनेन रूजो हन्ति' आसन से रोग दूर होते हैं। प्राणायाम के अभ्यास से शरीरगत कफ आदि मल धुल जाते हैं। जिस प्रकार से धातुओं के मल को अग्नि में तपा कर अलग कर देते हैं। मल के दूर होने पर शरीर कान्तिवान व निर्मल हो जाता है और साधक का मन एकाग्र होने लगता है। प्राणायाम से **'तत: क्षीयते प्रकाशावरण'** इस सूत्र के अनुसार आवरण का क्षय होकर घट भी प्रकाशित होने लगता है। इस प्रकार से योग साधनों से जहाँ शारीरिक लाभ होता है वहाँ अध्यात्म में भी प्रगति होती है। निर्मल मन में शक्तियों का वास रहा करता है। स्वस्थ शरीर वाले साधक का मन स्वत: ही एकाग्र हो जाता है। वह अन्तर्मुख रहता है। योगी के लिए श्री कृष्ण भगवान का आदेश है -

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा।

अर्थात् जिसका आहार-विहार उपयुक्त है, कर्मों में उचित चेष्टा है। जिसका सोना जागना उपयुक्त व उचित मात्रा में है ऐसे साधक के योग साधना करने से साधक के समस्त दु:ख नष्ट हो जाया करते हैं। उचित आहार-विहार से मनुष्य निरोग रहता है। जो भी व्यक्ति दीर्घ जीवी हुए हैं वे युक्त आहार-विहार के कारण ही दीर्घायु प्राप्त हुए। योग साधक को अपने शरीर की प्रकृति को समझ कर आहार लेना चाहिए। जो शरीर के लिए हितकर नहीं है उसे नहीं लेना चाहिए। हितभुक्, मितभुक् और ऋतुभुक् के तात्पर्य को समझ कर आहार ग्रहण करने से वह स्वस्थ रहता है। मानसिक रोगों की निवृत्ति के लिए महर्षि चरक ने अष्टांग योग को अपनाने की बात कही है। ईश्वर का ध्यान मनोरोग को दूर करने का अचूक साधन बताया है।

योग मार्ग में नौ विघ्न बताये गये हैं। इनमें पहला अन्तराय है व्याधि। व्याधि की व्याख्या करते हुए अपने भाष्य में व्यासदेव जी कहते हैं -

धातु रसकरण वैषम्यम व्याधि:। यह व्याख्या आयुर्वेद के मत की पुष्टि करती है। रोगोत्पत्ति के कारणों की विशद व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। अत: साधक को हर सम्भव अपने शरीर को स्वस्थ रखना चाहिए। योगासनों से वात, पित्त एवं कफ समतावस्था में रहते हैं परिणामत: रोग उत्पन्न नहीं होने देते हैं।

●●●

"सूरज उगने के पहले दही को मथने पर जितना अच्छा मक्खन निकलता है। दिन चढ़ने पर वैसा नहीं निकलता। अपने युवक भक्तों को सम्बोधित कर श्री रामकृष्णदेव कहा करते, "तुम लोग सूर्योदय के पहले निकाले गए मक्खन की तरह हो, गृहस्थ भक्त दिन चढ़ जाने पर निकाले गए मक्खन की तरह है।"

– रामकृष्ण परमहंस

योगविद्या का स्वरूप क्या है?

— डॉ. विजय सिंह

भगवान की प्राप्ति के उपायों में, ज्ञान, भक्ति और योग यही तीनों विशुद्ध मार्ग है। जिसमें योग मार्ग श्रेष्ठ उपाय है। सद्गुरु सानिध्य में रहकर किया गया अभ्यास अन्य कर्मों की अपेक्षा अधिक प्रशस्त है। सच तो यह है कि योगाभ्यास के बिना ज्ञानोत्पत्ति अथवा विशुद्ध भक्ति तत्व का प्राकट्य सम्भव नहीं होता। सच्चे सद्गुरु द्वारा ही औपनिषदीय सनातन शुद्ध योगविद्या प्राप्त कराया जाता रहा है। शास्त्रोक्त योग द्वारा प्रयोजन, साधन एवं परिणाम को भली प्रकार जाने बिना स्वयं से रेचक, पूरक आदि करने लगना खतरनाक सिद्ध होता है।

आज भी योग के प्रति भ्रांति एवं प्रलोभन समाज में व्याप्त है। प्राणायाम की कुछ क्रियाएं, नेति, धौति तथा विशिष्ट आसनों को ही लोगों ने योग समझ रखा है। कुछ अभ्यन्तर में नक्षत्र या सूर्य–चन्द्र के दर्शन करके ही अपने को योगी समझने लगते हैं। यहां तक की आसन जय करके विशिष्ट प्राण क्रियाओं द्वारा शरीर को निरालम्ब आकाश में उठा लेना अथवा जमीन के अन्दर कुछ दिनों कौशल पूर्वक रह सकना किसी को योगी नहीं बनाता।

योग का यथार्थ स्वरूप हमें सद्गुरु प्रणीत ग्रंथों – (1) योगसिद्धान्त प्रथम एवं द्वितीय खण्ड, लेखक योगयोगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज (2) पातंजलि योग दर्शन आदि से सहज ज्ञात है। ''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'' यह योग की परिभाषा है। चंचल चित्तवृत्तियों को रोक लेना ही योग है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि–योग के अंग हैं। ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठा किये बिना अथवा यम, नियमों के पालन में शिथिलता के साथ प्राणायाम करना सर्वथा हानिकारक सिद्ध होगा।

आसन विजय के पश्चात् संयम पूर्वक, संयम आहार के साथ किया गया रेचक, पूरक, कुम्भक हठयोगियों के ही समान राज योगियों को भी मान्य है। श्वास–प्रश्वासों गति को रोक लेना मुख्य प्राणायाम (कुम्भक) है।

'तस्मिन सति श्वास प्रश्वास योर्गति विच्छेदः प्राणायामः।' *योगसूत्र*

बाहर की वायु को अन्दर खींचना श्वास (पूरक) कहा जाता है तथा अन्दर कोष्ठगत वायु को धीरे–धीरे छोड़ना (रेचक) कहा गया है। इस प्रकार प्राण एवं अपान का मिलन और ठहराव को भगवान गोरक्ष नाथ ने परिभाषित प्राणायाम के रूप में किया है। प्राणायाम शेर को पालतू बिल्ली बनाने जैसा दुसह साध्य कार्य आज के सन्दर्भ में है। यह सच है कि प्राणायाम की अपार महिमा काया से सम्बन्धित बताया गया है। अजरत्व–अमरत्व एवं तमाम ऐन्द्रिक सिद्धियाँ प्राणायाम से प्राप्त होती हैं। प्राणायाम सीखने वाले में अपार धैर्य एवं ब्रह्मचर्य की शारीरिक–मानसिक प्रतिष्ठा आवश्यक है।

हमें यह बात सदैव याद रखना चाहिए कि प्राण सिद्धि जहाँ साधक को सुखद ढंग से आकाश में प्रतिष्ठित करता है वही साधना मे प्राण विकार आने पर भयानक–सिद्ध होता है। क्रमश: धीरे–धीरे लम्बे समय तक किये गये प्राणायाम से हमारा स्थूल एवं प्राणमय शरीर विशुद्ध होकर समष्टि–प्राण–तत्व पर अधिकार कर लेता है। प्राण जैसे हमारे शरीर के प्रत्येक क्रिया से क्रिया शक्ति प्रदान करता है वैसे ही ब्रह्माण्ड की सब क्रियायें **समष्टि प्राण** पर आधारित है। अत: योगी प्राणायाम द्वारा प्राण जय करके महान समष्टि प्राण पर **अधिकार प्राप्त** कर लेता है। अपार बल अपार–संकल्प शक्ति का स्वामी, ऐसे योगी होते हैं। **उनके द्वारा अब** संसार में अकरणीय **कुछ** भी शेष नहीं रहता।

प्रत्याहार – इन्द्रियों के भिन्न विषयों में मन के भटकाव को उन **विषयों से** अलग करने का नाम **प्रत्याहार है**। मन की बहिर्मुखी वृत्ति (विषयों में संयुक्तता) से शक्ति का बाह्य रूप में निरन्तर **अपसरण** होता रहता है। घड़े में भरा द्रव जैसे बराबर बाहर निकलता रहता है, यदि उसमें एक भी छिद्र हो। यहाँ पंच ज्ञानेन्द्रियाँ द्वारा मन की अपार शक्ति का बाहर की तरफ बड़ी चंचलता, त्वरा के साथ निकास होता रहता है। इन्द्रियों के वशीभूत हमारा मन विषयों में सुख लालसा के पीछे दौड़ रहा है और हम इसे रोक न सकें तो अंतर्मुखता कैसे सम्भव होगा? यह तथ्य सभी के अनुभव में है कि इन्द्रिय और मन के संयोग से ही हमें विषय–ज्ञान होता है। यह सम्बन्ध न हो तो विषयों का ज्ञान भी हमें नहीं होगा। अत: प्रत्याहार के अभ्यास में इन्द्रिय और मन को अलग–अलग नियुक्त करना होता है। धीरे–धीरे मन को एक आधार (चक्र देव) की ओर बार–बार समेटना प्रत्याहार कहलाता है।

प्रत्याहार सम्पन्न होने पर बाद में क्रम से धारणा, ध्यान समाधियों (सम्प्रज्ञात भेद सहित, असम्प्रज्ञात) की ओर सद्‌गुरु कृपा निर्देश से बढ़ना चाहिए।

प्रत्याहार सिद्ध होने पर चित्त की बाह्य चंचलता समाप्त होकर मन स्थिरता में शनै: शनै: परलक्षित होने लगता है। आगे धारणा, ध्यान, समाधि चित्त की सतोमयी भाव–भूमियाँ हैं। साधक अन्तर जगत में प्रवेश की थोड़ी योग्यता पा लेने पर जल्दी बाजी या लोभ में नहीं पड़े अपितु पहले मूलाधार आदि स्थूल कमल दल एवं ज्योतियों में अपने चित्त की स्थिति बनाये। सागर की लहरों के समान प्रतिपल मन में उठने वाली वृत्तियों को रोक कर चित्त के एकाकार–प्रवाह को सद्‌गुरु प्रदत्त आलंबन में ही लगाना श्रेयस्कर है। ज्योतियों के प्रवाह में स्थूल दृश्य अथवा सत्व चित्त के तरंग में, विष्णु, शिव आदि देवगणों के दर्शन से अस्थिर चित्त कदापि नहीं होना चाहिए। यह चित्त का एक देशीय एकाग्रता ही धारणा है। यह चित्तवृत्ति की एकाग्रता का समय प्रगाढ़ता से बढ़ना ध्यान कहलाता है। अभी ध्याता एवं ध्यान की भेद रहता है। अधिकाधिक अभ्यास, स्वाध्याय द्वारा ध्यान एवं ध्याता का भेद विगलित हो केवल ध्येय वस्तु ही प्रकाशित होता रहे तो यही समाधि (सम्प्रज्ञात प्रारम्भिक) अवस्था है। उपरोक्त कथित धारणा ध्यान–समाधियां चूंकि स्थूल आलम्बनों द्वारा बोधगत है अत: इसमें खूब परिपक्व

होकर वैराग्य की सम्पदा को अभ्यास में लाकर अब सूक्ष्म आधार में इनका अभ्यास करना चाहिए।

सूक्ष्म आधार का तात्पर्य पंच महाभूतों (स्थूल) के सूक्ष्म अवयव पंचतन्मात्राएँ हैं उनमें धारणा–ध्यान–समाधि के अभ्यास से चित्त के रज–तम मल का दहन होता है। साधक का चित्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अहंकार, महत्तत्व तथा प्रकृति (मूल) का साक्षात्कार करता हुआ महासत्व द्वारा हृदय गुफा में छिपे आत्म तत्व को देखने में समर्थ होता है।

अन्तर जगत में वेश, मन की एकाग्रता से प्रारम्भ होकर पूर्ण निरोधावस्था में स्व–स्वरूपावस्थान को प्राप्त करता है। अतः भ्रांतियों को त्याग कर सत्य प्रतिष्ठित मन से आत्म साक्षात्कार की ओर बढ़ते जाना ही योग का यथार्थ स्वरूप है। इस प्रक्रिया में सद्‌गुरु शरणापन्नता एवं स्वानुभूतियों का बड़ा महत्व है। जो पात्रता के साथ साधना करते रहते हैं उनके अंतःकरण में स्वयं योग मार्ग का प्रबोध होता रहता है। ''योगो योगात् प्रवर्तते''। योग में अनेक भूमियाँ हैं। अतः नीचे की सीढ़ी पर ठीक से चढ़ लेने के बाद अगला पैर सीढ़ी के अगले पाद पर जैसे रखना होता है उसी प्रकार योग की पूर्व भूमि की विजय के बाद ही आगे की भूमि में प्रवेश करना चाहिए। ऐसा करने से योग–च्युत होने का भय नहीं रहता।

एक विशेष बात यह है कि सद्‌गुरु अनुग्रह से यदि किसी–किसी साधक को स्वतः योग की उच्च भूमियाँ प्राप्त हो तो उसे निम्न भूमियों में समय खराब करने की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि पात्रता भेद से सद्‌गुरु शक्तिसंचार के प्रभाव में भिन्नता देखा गया है। जिसे सम्प्रज्ञात समाधि के उच्च स्तरों में सद्‌गुरु कृपा से मन की एकाग्रता प्राप्त हो गया हो तो वह प्राणायाम–प्रत्याहारों के दायरे से ऊपर, उठा हुआ होता है। उसे सद्‌गुरु अनुग्रह से धारणा–शक्ति सिद्ध हो गया है। ऐसा साधक निचले अभ्यासों की अवज्ञा करता है तो भी उसे क्षति नहीं होगा। इसी प्रकार किसी में सूक्ष्म विषय में धारणा करने की मानसिक शुद्धि पहले (पूर्व जन्मों के साधना के कारण) ही प्राप्त हो तो उसके लिए स्थूल–विषय के ध्यान करने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

शुद्ध हुए चित्त के अन्दर स्वयं योग की भूमिकाओं का प्राकट्य होता है। ''यत्र मंत्रणा भूमिः''। साधक अपनी पात्रता एवं सामर्थ्य का आंकलन करता हुआ उत्तरोत्तर भूमि में अभ्यास द्वारा चढ़ता चला जाता है। इसके लिए सामान्य साधक में ''सतुदीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारा सेविता दृढ़भूमिः'' की पात्रता होना ही चाहिए।

निष्कर्ष रूप से कहना ठीक होगा कि अपने स्वरूप ज्ञान रूपी सर्वोच्च सम्प्रज्ञात से आगे असंप्रज्ञात ही परम योग पद है। इस अवस्थान को प्राप्त ही परम योगी है। इसके अतिरिक्त योग के छोटे तलों पर भटकते हुए अपने को योगी समझते रहना माया का एक और छलावा के सिवाय और कुछ नहीं है।

●●●

योग-दर्शन

– योगी आदित्यनाथ, गोरक्षपीठ उत्तराधिकारी, गोरखपुर

सभी भारतीय दर्शन एक ही ज्ञान के पथ हैं। प्रत्येक दर्शन उस मार्ग का एक सोपान है। परम पद तक पहुंचने के लिए पहले सोपान को पार करना ही होगा। प्रत्येक सोपान तत्व ज्ञान के अर्थात् परम पद के जिज्ञासुओं की बुद्धि का क्रमिक विकास और ज्ञान–मार्ग में पद–विन्यास का क्रम है। अपने–अपने अधिकार के अनुरूप जिज्ञासु भिन्न–भिन्न दर्शनों के द्वारा प्रतिपादित तत्वों को ही अपना आपेक्षिक लक्ष्य मानता है और जब उस आपेक्षिक तत्व का साक्षात् अनुभव उस जिज्ञासु को हो जाता है, तब वह उसमें परम पद को अपने चरम लक्ष्य को न पाकर पुनः उसकी खोज में आगे बढ़ता है और पहले से सूक्ष्मतर तत्व में पहुंचता है। इसी क्रम में यदि जिज्ञासु बढ़ता जाए तो किसी न किसी दिन परम पद पर पहुंच ही जायेगा। 'योग दर्शन' के सम्बन्ध में भी यही चरितार्थ होता है। सांख्य दर्शन के आचार्यो ने यह विवेचन तो किया कि तत्वों की अनन्त संख्या में स्थितियों के पारस्परिक परिवर्तन से समस्त जगत और उसके परिणाम उत्पन्न हुए, परन्तु जगत के नियत विनाश कार्य–कारण नियम के सम्बन्ध में किसी योगक एवं निर्णायक सत्ता की कल्पना सांख्य ने नहीं की। सांख्य ने इस सत्ता का समाधान तत्वों के स्पन्दन एवं गति में ही ढूढ़ने की चेष्टा की, किन्तु यह पर्याप्त नहीं था। परिणामतः यह प्रश्न बराबर बना रहा कि अचेतन प्रकृति जगत की व्यवस्था का नियमन किस प्रकार करती है तथा प्रकृति में विचलन–विघटन स्वयं किस प्रकार होता है? पुरुष के सत्कर्म, असत्कर्म के फल की व्यवस्था किस प्रकार होती है तथा कौन कर रहा है? इस प्रकार के जिज्ञासुओं ने ही योग दर्शन के अन्तर्गत 'पुरुष–विशेष' ईश्वर को स्थापना का अवसर प्रदान किया। फलतः योग दर्शन के अन्तर्गत चेतन की निवृत्ति होने पर यह स्थापना की गई कि चेतन–पुरुष स्वरूप ईश्वर जो सर्वज्ञ एवं शक्तिमान है, उसकी इच्छा के फलस्वरूप गुणों के वे प्रतिबन्ध निवृत्त हो जाते हैं जो गुणों के परिणाम में बाधक होते हैं। इसके परिणाम स्वरूप गुणों से पुरुष की भोग एवं मोक्ष की सिद्धि सम्भव है। अर्थात् योग दर्शन के सिद्धान्तों की उत्पत्ति के मूल में सांख्य प्रतिफलित जिज्ञासाएं एवं शंकाएं किसी न किसी रूप में वर्तमान थी।

योग के दार्शनिक रूप में तत्वों का विचार करने में महर्षि पतंजलि का योग सूत्र महत्वपूर्ण सहायक है। 'योगसूत्र' योग शास्त्र का मूल ग्रन्थ है। इसमें चार पाद हैं :–

1. समाधिपाद, 2. साधनपाद, 3. विभुतिपाद, 4. कैवल्यपाद

प्रथम पाद के अन्तर्गत योग के स्वरूप, चित्तवृत्ति एवं समाधितथा उसके भेदों का निरूपण है। द्वितीय पाद में क्रियायोग, अविद्यादि क्लेश एवं उनके निवारण के उपाय एवं अष्टांग

योग आदि महत्वपूर्ण विषयों का निरूपण है। तृतीय पाद के अन्तर्गत धारणा, ध्यान, समाधि एवं योग साध्य विभूतियां निरूपित की गई हैं। चतुर्थ पाद (कैवल्य) का प्रमुख विषय कैवल्य है तथा समाधिसिद्धि, चित्तनिर्माण, आत्मभाव भावनानिवृत्ति आदि का निर्माण भी किया गया है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा योग दर्शन की एक विशेषता यह है कि यह सैद्धान्तिक ही नहीं व्यावहारिक भी **है। स्वस्थ** शरीर तथा सबल आत्मा दोनों ही इसके प्रतिपाद्य विषय है। **'युज समाधौ'** धातु से **निष्पन्न** योग शब्द का अर्थ 'समाधि' अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध है। **काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मन के विकारों को रोक कर आत्मा का साक्षात्कार करना ही योग है।** 'समाधि' चित्त **काही स्वाभाविक** एक धर्म है। इस चित्त की पांच अवस्थाएं होती हैं, जिनमें 'चित्त को भूमि' कहते हैं। 1.क्षिप्त, 2.मूढ़, 3.विक्षिप्त, 4.एकाग्र, 5.निरूद्ध।

सांख्य के समान योग में भी ईश्वर को छोड़कर अन्य तत्वों में सत्व, रजस् तथा तमस् रहते है। 'सत्व' का प्रभाव होने से ही साधक समाधिस्थ होता है। रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव से चित्त समाधि के योग्य नहीं होता। रजोगुण के प्रभाव से 'चित्त' बहुत चंचल होकर सांसारिक विषयों में इधर–उधर भटका करता है। उस अवस्था में इस चित्त को 'क्षिप्त' कहते हैं। जैसे दानवों का चित्त अथवा धन के मद से उन्मत लोगों का चित्त तमोगुण के प्रभाव से 'चित्त' 'मूढ़' हो जाताहै। जैसे निद्रा में मग्न चित्त। राक्षसों तथा अन्य निकृष्ट योनि में पैदा होने वालों का चित्त तथा मादक द्रव्य खाकर उन्मत्त लोगों का चित्त 'मूढ़' कहलाता है। सत्व का आधिक्य रहने पर भी, रजस् के कारण सफलता और असफलता के बीच में चित्त की वृत्ति निरन्तर भटकती रहती है तो उस स्थिति को विक्षिप्त कहते हैं। विशुद्ध सत्व केप्रभाव से एक ही विषय में लगे हुए चित्त को 'एकाग्र' कहते है तथा चित्त की वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर भी उन वृत्तियों के संस्कार–मात्र चित्त में रह जाते हैं। उन संस्कारों से मुक्त चित्त 'निरुद्ध' कहा जाता है। 'चित्त' त्रिगुणात्मक है। तीनों गुणों के प्रभाव क्रमशः समय–समय पर 'चित्त' में होते रहते हैं। उसके अनुसार 'चित्त' के भी तीन रूप होते हैं।

1.प्रख्या 2.प्रवृत्ति 3.स्थिति

प्रख्याशील – चित्त की वह अवस्था जब 'सत्व प्रधान चित्त' रजस् और तमस् से संयुक्त रहता है और 'अणिमा' आदि ऐश्वर्य की ओर आकर्षित होता है। वही चित्त जब तमोगुण से युक्त होता है तो अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य की ओर आकर्षित होता है। मोह के आवरणों से सर्वथा क्षीण केवल रजस् के अंश से मुक्त होने पर यही चित्त सर्वज्ञ प्रकाशमान होता है और धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से युक्त होता है।

प्रथम अवस्था में 'चित्त' ऐश्वर्य की ओर आकर्षित मात्र होता है, किन्तु अन्तिम अवस्था में वही 'चित्त' ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है, जब इस चित्त में रजस् के मलों का लेशमात्र भी नहीं रहता, तब सत्व–प्रधान 'चित्त' अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाताहै और

प्रकृति–पुरुष की विवेक बुद्धि. को प्राप्त करता है। पश्चात् वह '**धर्ममेघसमाधि**' में स्थित हो जाता है। (विवेक बुद्धि को प्राप्त कर, उसमें भी परिणामजन्य दुख देखकर,उसके फल की भी इच्छा न रखने वाला साधक '**व्युत्थान**' के संस्कार के तथा योग के विघ्नों के अभाव में सर्वथा विवेकख्याति के उदय होने से '**धर्ममेघ**' नाम की समाधि को प्राप्तकरता है। समाधि की यह अवस्था सम्प्रज्ञात की पराकाष्ठा रूप समाधि है। '**धर्म**' अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा के ऐक्य का साक्षात्कार, उसे 'मेघ' के समान जल से जो सिचंन करें, उसे ही 'धर्ममेघ' समाधि कहते हैं।)

'चित्त' जड़ है और पुरुष चेतना है। अनादि अविद्या के कारण पुरुष और प्रकृति में परस्पर एक प्रकार का अभेद सम्बन्ध हो जाता है। इससे बुद्धि की वृत्तियों का पुरुष में आरोप होता है । औरमैं सुखी हूं, दुखी हूं' आदि इस प्रकार के ज्ञान पुरुष में उदित होते हैं। बुद्धि की विषयाकार वृत्तियां पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है,वही 'पुरुष की वृत्ति' कही जाती है। पुरुष का प्रतिबिम्बचित्त' पर पड़ता है। इससे'चित्त' की वृत्ति है।'चित्त की वृत्तियां' अज्ञान का कारण है। इनको रोकना आवश्यक है। ये वृत्तियां जब धर्म, अधर्म तथा वासनाओं की उत्पत्ति का कारण होती है, तब ये 'अक्लिष्ट कहलाती है। इन वृत्तियों में संस्कार होते है और 'संस्कार' से वृत्तियां होती है। इस प्रकार 'वृत्ति–संस्कार–चक्र' अहर्निश चलता रहता है। निरुद्ध अवस्था में यह चक्र केवल संस्कार रूप में रह जाता है अथवा अभ्यास के द्वारा संस्कारों का भी क्षय हो जाने से आत्यन्तिक लय में प्राप्त होकर '**विदेह कैवल्य**' को प्राप्त करता है। निरोध समाधि में लय हो जाना ही साधक की मुक्ति है।

वृत्तियां पांच प्रकार की होती है – 1. प्रमाण, 2. विपर्यय, 3. विकल्प 4, निद्रा, 5. स्मृति।

1. प्रमाण – सांख्य दर्शन की तरह योग दर्शन ने भी प्रारम्भिक अनुमान शब्द, ये तीन प्रमाण माने है। योग दर्शनके अनुसार चित्त द्वार से बच जाकर वस्तुओं के साथ उपराग प्राप्त करता है और विषयाकार हो जाता है। इस प्रकार वस्तु के आकार को प्राप्त जो चित्तवृत्ति होती है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है, उदाहरण के लिए, वस्तु के आकार को प्राप्त चित्तवृत्ति में अहं घटं जानामि अर्थात् मैं घट को जानता हूं, इस प्रकार घट का साक्षात्कार होता है। लिंग से लिंगी का सम्बन्ध निश्चय करने वाला ही अनुमान होता है। धूमादि लिंग या हेतु है तथा अग्नि आदि साध्य या लिंगी कहे जाते है। धूमादि हेतु का अग्न्यादि साध्य से अविनाभाव व्याप्ति सम्बन्ध होत है। इसी सम्बन्ध के निश्चय से अनुभूति होती है। अनुमान का विषय तुल्यजातीय तथा भिन्न जातीय दोनों होता है। उदाहरण के लिए – साध्य अग्नि की अनुमिति में पर्वत आदि के समान महानस आदि में रहने वाला समान जातीय हैं तथा पर्वत आदि पक्ष से भिन्न जलहृद आदि पक्ष में साध्य (अग्नि) का अभाव है। अतः यह भिन्न जातीय कहलाता है। इन दोनों में क्रमशः अन्वय–व्यतिरेक सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का निश्चय अनुमान से ही होता है। इसी प्रकार आप्त पुरुष के वचन को आगम (शब्द) प्रमाण कहते है।

2. **विपर्यय** – किसी वस्तु का मिथ्या ज्ञान ही विपर्यय कहलाता है। जिस ज्ञान का निश्चित परिमाण के द्वारा बोध हो जाए वह मिथ्या ज्ञान है।

3. **विकल्प** – शब्द ज्ञान से उत्पन्न होने वाला किन्तु उस वस्तु विशेष का अत्यन्त अभाव रहे ऐसे ज्ञान को विकल्प कहते हैं, जैसे –पुरुष और चैतन्य में भेद का भान यह वास्तव में नहीं है क्योंकि चैतन्य ही पुरुष है, फिर भी चैतन्य को पुरुष से पृथक् समझना विकल्प है।

4. **निद्रा** – किसी वस्तु के अभाव ज्ञान का अवलम्बन करने वाली वृत्ति निद्रा है। निद्रा वह अवस्था है जब तमस् के आधिक्य से जागृत और स्वप्न की वृत्ति क्योंकि सोकर उठने वाले पुरुष को जागृत अवस्था में 'मैं खूब सोया, मेरा मन शान्त है' इत्यादि का बोध होता है।

5. **स्मृति** – अनुभूत किए गए विषयों का उसी रूप में स्मरण होना **स्मृति** है।

उपर्युक्त पांच प्रकार की वृत्तियां कार्य उत्पन्न कर सूक्ष्म रूप से **संस्कार के** रूप में हमारे अन्तःकरण में रहती है। समय पाकर सादृश्य आदि के द्वारा उद्**भूव होने से ये** संस्कार पुनः वृत्ति का रूप धारण करते हैं। यह चक्र सदैव चलता रहता है। इन्हीं **वृत्तियों के** निरोध से क्रमशः तत्व ज्ञान होता है और दुख की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है। इन्हीं वृत्तियों का निरोध ही योग है।

वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है। इस निरोध की दो अवस्थाएं होती है –

1. सम्प्रज्ञात 2. असम्प्रज्ञात सम्प्रज्ञात समाधि भी चार प्रकार की होती है – 1. वितर्कानुगत, 2. विचारानुगत 3. आनन्दानुगत 4 अस्मितानुगत। असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद हैं – 1. भावप्रत्यय 2. उपायप्रत्यय

भावप्रत्यय में ज्ञान का उदय नहीं होता और अविद्या रहती है। समाधि की इस अवस्था में पहुंचने पर साधक को संसार की ओर झुक जाने की आशंका बनी रहती है किन्तु उपायप्रत्यय में प्रज्ञा का उदय होने के कारण अविद्या का नाश हो जाता है। अविद्या के नाश होने से क्लेशों का भी नाश होता है और साधक ज्ञान में चित्त को प्रतिष्ठित करने में सफल होता है।

क्लेशों के पांच प्रकार है – 1. अविद्या, 2. अस्मिता, 3. राग, 4. द्वेष, 5. अभिनिवेश। अविद्या ही चार क्लेशों का कारण है।

1. **अविद्या**– अनित्य को नित्य, अशुचि को शुचि, दुख को सुख तथा अनात्मा को आत्मा मानना ही अविद्या है।

2. **अस्मिता** – दृक् शक्ति पुरुष तथा दर्शन शक्ति बुद्धि दोनों परस्पर भिन्न हैं किन्तु इन दोनों को एक मानना ही अस्मिता है।

3. **राग** – सुख की अत्यन्त इच्छा को राग कहते हैं।

4. **द्वेष** – दुख के साधनों में जो क्रोध हो वही द्वेष है।

5. अभिनिवेश – अभिनिवेश अर्थात् मृत्युभय यह जीवमात्र का एक स्वाभाविक गुण है।

उक्त क्लेशों से धर्म, अधर्म बनते हैं। पश्चात् उन्हीं से जाति, आयु तथा भोग उत्पन्न होते हैं और उन्हीं से सुख और दुख होता है।

क्लेशों से मुक्त होने तथा चित्त को समाहित करने के लिए योग के आठ साधनों का अभ्यास योग दर्शन में आवश्यक बताया है। ये हैं, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

1. यम – अन्तःकरण की शुद्धि को यम कहते हैं अर्थात् कायिक, वाचिक तथा मानसिक संयम यम कहलाता है। ये पांच हैं – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

2. नियम – साधना के लिए वातावरण तैयार करने के लिए बाह्य शुद्धि को ही नियम कहते हैं। ये भी पांच है – शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान।

3. आसन – साधना के लिए स्थिर और सुखपूर्वक की जाने वाली आकृति विशेष को आसन कहते हैं।

4. प्राणायाम – प्राणों के विस्तार का आयाम अर्थात् श्वास तथा प्रश्वास की गति के विच्छेद को प्राणाम कहते हैं। इसके तीन आयाम हैं – पूरक, रेचक और कुम्भक।

5. प्रत्याहार – अपने–अपने विषयों से इन्द्रियों को हटाकर अन्तर्मुखी करने की क्रिया को प्रत्याहार कहते हैं।

6. धारणा – चित्त को किसी स्थान विशेष में स्थिर कर देना धारणा है।

7. ध्यान – किसी वस्तु विशेष में चित्त की निरन्तर एकाग्रता ध्यान कहलाता है।

8. समाधि – जब ध्यान ही ध्येय के आकार में भासित हो और अपने स्वरूप को छोड़ दे तो वह स्थिति समाधि कहलाती है। समाधि की स्थिति में ध्यान और ध्याता का भान नहीं होता, केवलध्येय रहता है अर्थात् ध्याता, ध्यान तथा ध्येय तीनों की एक सी प्रतीति होती है।

योग दर्शन में ईश्वर का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अनुसार ईश्वर या उसके वाचक वर्णो के जप से तथा उसके अर्थ की भावना करने से चित्त एकाग्रता को प्राप्त करता है। जिसके द्वारा क्रमशः चित्त वृत्तियों का निरोध होता है। **महर्षि पतंजलि** के योग सूत्र के अनुसार **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वरः'** अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पांच क्लेशों से, पुण्य एवं पाप कर्मो से उत्पन्न जाति, आयु तथा भोग के फलों से, चित्त से उत्पन्न वासनाओं से रहित पुरुष विशेष को ईश्वर कहते हैं।

ईश्वर के स्वरूप से अन्य जीवों की तुलना नहीं की जा सकती है फिर चाहे वह केवल पुरुष हो अथवा मुक्त पुरुष या प्रकृतिलीन पुरुष, क्योंकि प्राकृतिक (जड़ प्रकृति को ही समझकर उसमें लीन हो जाना प्राकृतिक बन्धन है) वैकारिक (महत्तत्व आदि विकार को ही

आत्मा समझकर उसमें तन्मय हो जाना बेकारिक बन्धन है।) तथा दाक्षणिक (आत्मा के स्वरूप को न जानकर यज्ञ आदि करने में ही सदा निरत रहना दाक्षणिक बन्धन है।) इन तीन बन्धनों से मुक्त होकर ही जीव केवल पुरुष होते हैं, किन्तु ईश्वर में न कभी बन्धन था और न कभी होगा इसलिए ईश्वर केवल पुरुष से भिन्न है।

ईश्वर सर्वगुण सम्पन्न है। ये सर्वगुण अनादि काल से ईश्वर में हैं अर्थात् ईश्वर ऐश्वर्य सम्पन्न है तथा सदैव मुख्य है एवं सर्वज्ञ है। ईश्वर के प्रणिधान से साधक को अपने स्वरूप का साक्षात्कार होता है और योग के विघ्नों का अर्थात् व्याधि चित्त की अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद, शरीर और चित्त का आलस्य, तृष्णा, विपर्यय ज्ञान, मधुमति आदि समाधि की भूमियों की प्राप्ति लब्ध भूमि में स्थिर होकर न रहना, इन नौ चित्त के विक्षेपों का नाश होता है। समाहित चित्त होकर ईश्वर के चिन्तन से सात्विक बुद्धि शुद्ध होती है। मन के विकार दूर होते हैं। उन विकारों से उत्पन्न होने वाले विघ्नों का नाश ईश्वर के ध्यान से होता है इसलिए चित्त को समाधिष्ठ बनाकर मुक्ति को प्राप्त करने के लिए ईश्वर का चिन्तन उपयुक्त साधन है।

●●●

"लावे भूनते समय जो एक दो लावे चटखकर तसले केबाहर जा गिरते हैं वेही सबसे सुन्दर होते हैं। उनके कोई दाग नहीं होता और जो लावे तसले में रहते हैं उन पर कहीं न कहीं दाग लग जाता है। साधना करते हुए जो साधक संसार का सम्पूर्ण रूप से त्याग कर बाहर चलेजातेहैं वे ही पूर्ण बेदाग सिद्ध बन जाते हैं जो संसार में रहकर सिद्ध बनते हैं उनके कुछ न कुछ दाग रह ही जाता है।"

— रामकृष्ण परमहंस

चित्तरूपी रोग की चिकित्सा के उपाय तथा मनोनिग्रह से लाभ
(योग वाशिष्ठ से साभार)

श्री वसिष्ठजी कहते हैं – **श्रीराम!** यह चित्त एक महान् रोग है। इसकी चिकित्सा के लिए एक बहुत बड़ी औषध है, जो अभीष्ट साधक, निश्चित रूप से लाभ पहुँचाने वाली, परम स्वादिष्ट और अपने ही अधीन है; उसे बताता हूँ, सुनो। राग के विषयभूत बाह्य विषयों का परित्याग करके परमात्म चिन्तन रूपी अपने ही पुरुषार्थमय प्रयत्न से चित्तरूपी बेताल पर शीघ्र विजय पायी जाती है। जो अभीष्ट वस्तु (बाह्य विषयभोग) को त्यागकर चित्त के राग आदि रोगों से रहित हो स्वस्थ रहता है, उसने अपने मन को उसी प्रकार जीत लिया है, जैसे मजबूत दाँतों वाला हाथी खराब और कमजोर दाँत वाले हाथी को जीत लेता है। स्वसंवेदन (आत्मा या परमात्मा के निरन्तर चिन्तन) रूपी प्रयत्न से चित्तरूपी बालक का पालन किया जाता है, अर्थात् उक्त यत्न से उसके राग और चपलता आदि रोगों की चिकित्सा करके उसे स्वस्थ बनाया जाता है। उसे अवस्तु (मिथ्या अथवा अनात्मवस्तु) – से हटाकर वस्तु (सत्य अथवा आत्मतत्त्व) में लगाया जाता है तथा उसे बोध से सम्पन्न किया जाता है। जैसे बालक को प्यार या भय दिखाकर बिना प्रयत्न के ही इधर-उधर जहाँ चाहे लगाया जा सकता है, उसी प्रकार भावों से मन को भी अनायास ही अन्तरात्मा में लगाया जा सकता है। ऐसा करने में कठिनाई ही क्या है?

भविष्य में अभ्युदयरूपी फल को देने वाले सत्कर्म (समाधि के अभ्यास) में लगे हुए मन को अपने पुरुषार्थ से ही चेतन परमात्मा के साथ संयुक्त करे। जो सर्वथा अपने अधीन और परम हितकर है, वह अभीष्ट वस्तु का त्यागरूपी वैराग्य जिसके लिए कठिन हो गया है, वह मनुष्य नहीं, विषयों का कीड़ा है। उसे धिक्कार है। जैसे कोई पहलवान किसी बालक को अनायास ही पछाड़ देता है, उसी प्रकार अपनी बुद्धि से अरम्य विषय-समूह में परम रमणीय परब्रह्म परमात्मा की भावना करके मन को बिना यत्न के ही जीत लिया जा सकता है। पौरुषरूपी प्रयत्न से चित्त को शीघ्र ही जीत लिया जाता है। जो चित्त को जीतकर उसके प्रभाव से रहित हो गया है, वह बिना किसी प्रयास के परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। अपने चित्त पर आक्रमण करके उसे वश में कर लेना मात्र ही सहजसाध्य और स्वाधीन कार्य है, उसे ही जो लोग नहीं कर सकते, वे पुरुष नहीं, गीदड़ हैं। उन्हें धिक्कार है। एकमात्र अपने पौरुष से ही सिद्ध होने वाला जो अभीष्ट वस्तु का त्यागरूपी मनोनिग्रह कर्म है, उसके बिना शुभगति नहीं हो सकती। अभीष्ट बाह्य विषयों का स्मरण न करना अथवा मनोवांछित मोक्ष-सुख की प्राप्ति कराना जिसका स्वरूप है, उस मुख्य साधन मनोनिग्रह के बिना गुरु का उपदेश, शास्त्र के अर्थ का चिन्तन और मन्त्र आदि सारे साधन या युक्तियाँ तिनकों के समान व्यर्थ हैं।

संकल्पों के परित्यागरूपी शस्त्र से जब चित्त रूपी वृक्ष का समूल उच्छेद हो जाता है, तब

साधक सर्व–स्वरूप सर्वव्यापी शान्त ब्रह्मरूप हो जाता है। श्रीराम! जैसे दिग्भ्रम होने पर पूर्व में पश्चिम की प्रतीति होने लगती है और वह अनुभव के विपरीत बुद्धि उस समय बिलकुल स्थिर हो जाती है; परंतु विवेकरूपी पुरुष–प्रयत्न से उस भ्रान्त बुद्धि का भी शीघ्र निवारण किया जा सकता है, उसी तरह मन को भी वैराग्य रूपी पुरुष–प्रयत्न से शीघ्र ही जीता जा सकता है। मन में उद्वेग का न होना राज्य आदि सम्पत्ति का मूल कारण है। उद्वेग या उकताहट न होने से ही जीव को अपने मन पर विजय प्राप्त होती है जिससे तीनों लोकों पर विजय पाना तृण के **समान सहज** हो जाता है। जो नराधम अपने मन के निग्रह में भी समर्थ नहीं हैं, वे व्यवहार–दशाओं **में व्यव**हार का निर्वाह कैसे कर सकेंगे? मैं पुरुष हूँ, मरा हूँ, उत्पन्न हुआ हूँ और जी रहा हूँ इत्यादि **कुदृष्टियाँ चंचल** चित्त की वृत्तियाँ ही प्रतीत होती हैं, जो बिना हुए ही प्रकट हुई हैं। यहाँ न तो किसी की मृत्यु **होती है** और न कोई जन्म ही लेता है। मन स्वयं ही अपने मरण का तथा लोकान्तरगमन का संकल्प मात्र से अनुभव करता है। जो नित्य सत्, सबका हितकारी, मायामयी मलिनता से रहित और सर्वव्यापी परमात्मा हैं, उनमें चित्त का लय हुए बिना मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस बात का ऊपर–नीचे तथा अगल–बगल के लोकों में रहने वाले तत्वदर्शी विद्वानों ने बारम्बार विचार किया है और सब–के–सब इसी निश्चय पर पहुँचे हैं कि चित्त की शान्ति के सिवा मुक्ति का दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। ऋत, सत्य, व्यापक और निर्मल ज्ञान का हृदय में उदय होने पर मन के लय होने मात्र से परम शान्ति प्राप्त हो जाती है। यदि आपातरमणीय विषयों को तुम जैसे विद्वान् ने अरमणीय वस्तुओं की कोटि में समझ लिया है, तब तो मेरा विश्वास है कि तुमने चित्त के सारे अंग काट डाले हैं। यह सामने दिखायी देने वाला जो वह (पिता से उत्पन्न) शरीर है, वह मैं हूँ और यह जो घर, खेत आदि धन है, यह सब मेरा है! यह 'मैं' और 'मेरा' ही मन है। यदि यह मैं और मेरे पन की भावना न की जाय तो उससे मन उसी तरह कट जाता है, जैसे हँसिया से तृण। जैसे शरद्–ऋतु में आकाश में बिखरे हुए बादलों के टुकड़े वायु द्वारा उड़ा दिये जाते हैं, उसी प्रकार मैं और मेरे पन की कल्पना या भावना न करने से मन भी उड़ा दिया जाता है – नष्ट कर दिया जाता है। इसलिए कोई विज्ञ पुरुष जैसे अपने बालक पुत्र को अच्छे कर्म में लगाता है, उसी तरह विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वह अपने मन को कल्याण में लगाये। जिसका नाश होना कठिन है तथा जो नूतन या बालक न होकर सयाना और दर्प से भरा हुआ है, उस मनरूपी सिंह को, जो संसार का विस्तार करने वाला है, जो लोग मार डालते हैं, वे निर्वाणपद का उपदेश देने वाले महात्माजन इस संसार में धन्य हैं। उनकी सदा ही विजय होती है। भले ही प्रलयकाल के प्रचण्ड पवन प्रवाहित हों, चारों समुद्र एक में मिलकर एकार्णवहो जायँ और बारहों सूर्य एक साथ तपने लगें, परंतु जिसका मन शान्त हो गया है,उस पुरुष की कभी कोई हानि नहीं होती।

●●●

गुरुशरण में आजा रे बन्दे

– विजय शर्मा, सहारनपुर

तर्ज – कसमें वादे प्यार वफा

गुरु शरणमें आजा रे बन्दे, जन्म सफल हो जायेगा,
अनत ज्योंति यहीं जगेगी, प्रभु मिलन हो जायेगा।

पूर्ण ब्रह्म गुरु रूप में आये, ज्ञान की ज्योति जगाई
रामकृष्ण गोविन्द सभी ने, महिमा गुरु की गाई
गुरु कृपा को पालें रे बन्दे, भव सागर तर जायेगा
गुरु शरण में ....

रिश्ते नाते जोड़ जगत के , अपने प्रभु को भुलाया
काम क्रोध मद लोभ में फंस के, जीवन नरक बनाया
गुरु द्वार से कटेंगे बन्धन, आत्म शान्ति भी पायेगा
गुरु शरण में ....

जीवन पथ की हर तेरी बाधा, सद्गुरुदेव हटायेंगे
ज्ञान गंगा में तुझे नहला कर, मिलन प्रभु से करायेंगे
अब तो आजा गुरुशरण में, अमृत प्रभु का पायेगा
गुरु शरण में ....

निज भक्तों पर कृपा करन, प्रभु रामलाल जग में आये
राह योग की जग को दिखाने, धाम कैलाश छोड़ आये
दर पे इनके शीश झुका लें, अमृत योग का पायेगा
गुरु शरण में ....

योगेश्वरप्रभु रामलाल जी ने, कृपा अपनी बरसाई
प्रभु चन्द्रमोहन जी को शरण में लेके, योग ध्वजा पकड़ाई
सेवा करलो युगल चरण की, अवसर फिरना आयेगा
गुरु शरण में ....

पूर्ण ब्रह्म श्री चन्द्रमोहनजी , सद्गुरु रूप में आये
सिद्ध योग के अमर साधन भी, जग में प्रभू प्रकटाये
सिद्धेश्वर की शिष्यमाला का, मोती तू बन जायेगा
गुरु शरण में ....

●●●

श्री रामलाल प्रभवे नमः श्री सद्गुरुदेवाय नमः

शुभ सूचना

योग प्रचार मण्डल सागर (म.प्र.) के साधकों को यह सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि हमारे शहर में 13, 14 व 15 दिसम्बर को योग प्रचार शिविर का आयोजन हो रहा है। इसमें आचार्य दासलाल जी महाराज सहित कई साधक श्री सिद्धगुफा सवांई से आ रहे हैं। आप सभी से अनुरोध है कि शिविर में आकर सत्संग लाभ लें और पुण्य के भागी बनें।

कार्यक्रम स्थल का पता :-
नारायण दास चौरसिया
C/o सीताराम चौरसिया प्रेस वाले
पुत्री शाला के पीछे,
115, चकराघाट, सागर
मो. – 09826959745

निवेदक :
योग प्रचार मण्डल
सागर

सांसारिक कामनाऐं

– प्रो. ऋषिराम शर्मा

यह स्थूल जगत जीवात्माओं की स्वभावज कामनाओं का ही स्थूल रूप है। पूर्व जन्मों की कामनायें अन्त:करण में वासनाओं के संस्कारों के रूप में तथा वर्तमान जन्म की कामनायें चित्तवृत्तियों के रूप में कर्माशय का निर्माण करती हैं। परमात्मा की अनन्तशक्तियुक्ता योगमाया समस्त जीवसृष्टि के लिए कर्मविधान तथा गुणविधान के द्वारा सभी जीवों की फलोन्मुखी परिपक्व कामनाओं के अनुकूल इस दृश्य जगत का निर्माण कर देती है। इस विषय में शास्त्र का प्रमाण है कि –

''सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः''

(योगदर्शन 2/13)

ते ध्यानयोगानुगताः अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढाम्।
सा कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठति एका।।
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगत् विपरिवर्तते।।
यावत् हेतुफलावेशः तावत् हेतुफलोद्भवः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न समुपद्यते।।
गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
सः विश्वरूपः त्रिगुणः त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः।।
स्थूलानि सूक्ष्मानि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैः वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्चैव तेषां संयोगहेतुः अपरोऽपि दृष्टः।।
काममयः एव अयं पुरुषः इति, सः यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति।
यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।।

अर्थात् प्रकृति का यह नियम है कि चित्त में संचित कर्माशय के जो कर्म फलोन्मुख होकर प्रारब्ध बनते हैं वह प्राणशरीर में प्रवेश कर जाते हैं। प्राणशरीर के द्वारा भौतिक शरीर तथा सूक्ष्मशरीर में प्रवेश कर जीवात्मा के स्वभाव का निर्माण करते हैं। यह प्रारब्ध ही जीवात्मा की प्रत्येक योनि, उस योनि की आयु यानि मृत्यु का समय तथा योनिगत सुख–दु:ख के भोगों एवं सभी प्रकार के सम्बन्धों का निर्धारण करता है। मनुष्ययोनि में कुछ विशेष कर्म जैसे एकाग्रचित्त द्वारा विशेषशक्तिसम्पन्न देवों की अर्चना, सिद्धपुरुषों की सेवा, कठोर तप अथवा समाधि की योग्यता वाले कर्म प्रारब्ध में प्रवेश कर जाते हैं। मनुष्ययोनि भोगयोनि नहीं है इसलिए इस योनि

में मनुष्य प्रारब्धकर्मों को करने के लिए तो प्रकृति के द्वारा बाध्य होता है किन्तु मन तथा बुद्धि पर अपना नियन्त्रण करते हुए पुरुषार्थकर्मों को करने में स्वतन्त्र होता है। अतः आध्यात्मिक प्रगति मनुष्ययोनि में ही सम्भव है। सृष्टि में प्रत्येक क्षण परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों के पीछे प्रकृति अपादान कारण है तो पुरुष निमित्त कारण है। कारण से कार्य का सम्पादन होता है और वह कार्य किसी अन्य कार्य के लिए कारण का रूप ले लेता है इस तरह इस कारण–कार्य की श्रृंखला से सृष्टि का निर्माण तथा परिवर्तन सम्भव होता है। यह प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म है, इन्द्रियों का विषय नहीं है, केवल ज्ञानचक्षु से ही इसका निरीक्षण तथा विश्लेषण सम्भव है। इस सूक्ष्म गुणात्मक प्रक्रिया को जानने के लिए जब ज्ञानचक्षुसम्पन्न सिद्धपुरुषों ने संकल्प किया तब उन्होंने समाधि में इस प्रक्रिया की अधिष्ठातृशक्ति परमात्मा की योगमाया को देखा जो सभी अनन्त कारणों की मूलकारण थी तथा विश्वरूपा थी। उन्होंने अनुभव किया कि अनन्त जीवात्मायें मायिक गुणों के बन्धन में मायिक विषयसुख की कामनाओं की लहरों में भवसागर में डूबे हुए हैं, अनेकानेक योनियाँ रूपी लहरों में गोता खा रहे हैं, कभी स्थूलशरीरों में तो कभी सूक्ष्मशरीरों में जन्म–मृत्यु के आवागमन में भ्रमित हैं। इस आवागमन की क्रिया में अन्तःकरण में संचित कर्माशय तथा वासनाओं के संस्कारों का विशेष योगदान है, क्योंकि इन्हीं की प्रेरणारूपी वायु से प्रेरित होकर भवसागर में लहरें उठती हैं यानि जीवात्माओं का जन्म तथा मृत्यु का आवागमन निरन्तर चलता रहता है, क्योंकि –

जातिदेशकालव्यवहितानामपि आनन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोः एकरूपत्वात्।।

(योगदर्शन 4/9)

तदसंख्येयवासनाभिः चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्।।

(योगदर्शन 4/24)

अर्थात् किसी भी योनिविशेष में जन्म लेने से, किसी भी युग मन्वन्तर तथा काल में तथा किसी भी लोक अथवा प्रदेश में जन्म लेने तथा शरीर त्यागने तथा पुनः नवीन शरीर धारण करने पर भी वासनायें नष्ट नहीं होतीं अपितु उनकी निरन्तरता एवं भुगतानप्रक्रिया बनी रहती है, क्योंकि वासनाओं के चित्त में संचित संस्कार तथा स्मृति मायिक सृष्टि में एकरूप हैं यानि संस्कार स्मृति के रूप में परिवर्तित होते रहते हैं और शरीर त्यागने तथा ग्रहण करने में सूक्ष्म शरीर में यथावत विद्यमान रहते हैं। मायानिर्मित चित्तरूपी सूक्ष्म शरीर में असंख्य तथा अनन्त वासनाओं के संस्कारों को संचित करने की क्षमता है, क्योंकि सभी मायिक तत्व परस्पर सहयोग में निरन्तर कार्यरत रहते हैं। इसी को अनन्त योगमाया कहा जाता है। यही योगमाया परमात्मा का स्वभाव है, ऐसा वेदवाणी का कथन है कि –

भोगार्थं सृष्टिः इति चान्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
स्वभावोऽयमस्य देवस्य आप्तकामस्य का स्पृहा।।

प्राणादिभिः अनन्तैश्च भावैः एतैः विनिर्मिता।
माया ह्येषा तस्य देवस्य यया सम्मोहितः स्वयंम्।।

अर्थात् कुछ सृष्टिचिन्तकों का मानना है कि परमात्मा ने इस सृष्टि की रचना विषयभोगों के लिए किया है तथा अन्य विद्वानों का मानना है कि यह रचना परमात्मा ने क्रीड़ा करने के लिए किया है किन्तु परमात्मा तो आप्तकाम है। यह सृष्टि तो ईश्वर का ऐश्वर्य है जोकि उसका स्वभावमात्र है। जैसे अग्नि से ज्वालायें स्वाभाविक निकलती हैं वैसे ही प्राणादि से आरम्भ होकर अनन्त मायिक तत्व स्वाभाविक प्रकट होते हैं जिनके परिणामस्वरूप वह स्वयं भी जीवात्माओं के रूप में अनन्त प्रतिबिम्बों में दिखाई दे रहा है। यह जीवात्मा संकल्परूप है, चित्त में संकल्पों के संस्कार वासना के रूप में रहते हैं, जैसे संकल्प तदनुकूल योनियाँ मिलती रहती हैं, गुणों से उत्पन्न अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश तथा तज्जनित कर्माशय माया के गुणकर्मविधान के अनुसार सृष्टिचक्र को चलाता रहता है। इस विषय में वेदवाणी का कथन है कि –

''यच्चित्तो प्राणमायाति प्राणः तेजसा युक्तः सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति।।''

अर्थात् जिन परिपक्व संस्कारों के साथ जैसा चित्त प्राणशरीर में प्रवेश करता है, प्राण परमात्मा के तेज से युक्त जीवात्मा के रूप में संकल्पों के अनुकूल लोक में जन्म लेता है। यही सृष्टि का रहस्य है। जब तक जीवात्मा गुणों के प्रभाव में कामनाओं के आधीन फल देने वाले पुण्यकर्म, पापकर्म तथा मिश्रितकर्मों को करती रहेगी तब तक उन कर्मों का फल भोगने के लिए शरीर धारण करने को बाध्य है। इसी त्रिगुणात्मक सांसारिक कामनाओं का बन्धन जीवात्मा को शरीर की आसक्ति से तथा कर्मफल से बाँधकर रखता है। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता के रूप में इस सत्य का रहस्योद्घाटन किया है कि –

सत्वं रजः तमः इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।
तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकं अनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ।।
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्।।
तमस्तु अज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्य निद्राभिः तन्निबध्नाति भारत।।
सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।।

अर्थात् जीवात्मा का शरीरबन्धन मायिक गुणों सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के

कारण है, क्योंकि इन गुणों के क्रमपरिणामों से दृश्यजगत का निर्माण हुआ है, गुणविकारों से उत्पन्न अविद्यादि पंचक्लेशों से कर्माशय का निर्माण होता है, राग–द्वेष से विषयभोगों में आसक्ति तथा चित्त में वासनाओं के संस्कारों का संचय होता है जिससे चित्त पर चित्तवृत्तियों का मलावरण छा जाता है। इन सबके परिणामस्वरूप जीवात्मा अपने को मायापाश में बँधा हुआ असहाय, असमर्थ तथा भ्रान्तिज्ञान से भ्रमित अनुभव करती है। शुद्ध सतोगुण के कारण प्रकाश, ज्ञान तथा सुखानुभूति होती है, शुद्ध रजोगुण के कारण सुखानुभूति में विषयासक्ति, दुःखानुभूति में द्वेष तथा क्रोध, विषयभोगों के लिए तृष्णा तथा कामनाओं की दलदल एवं इन भावनाओं की पूर्ति के लिए कर्मों में फलासक्ति का विष तैयार हो जाता है। शुद्ध तमोगुण से अस्मितादोष के कारण अहंकार, मोहादि का अज्ञान, प्रमाद, निद्रा तथा आलस्यादि चित्तविकार उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु माया के विधान के अनुसार सदैव मिश्रित तथा प्रतिक्षण परिवर्तनशील तथा परस्पर कर्मफल की प्रेरणा से जीवात्मा के स्वभाव पर शासन करते हैं तथा मिलजुलकर कार्यरत रहते हैं। बुद्धि स्वयं इन गुणों की उपज है अतएव इनकी कार्यप्रणाली को समझने में असमर्थ है। सांसारिक कामनायें भी इसी कार्यप्रणाली का अंग हैं। यह संसार भी इन्हीं कामनाओं का मूर्तिमान स्वरूप है। इन रहस्यों को जानने का एकमात्र उपाय है कि –

''आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।।''

अर्थात् आत्मज्ञान के द्वारा ही इन गुणों को जाना जा सकता है। इसका विशेष कारण यह है कि गुण प्रकृति से प्रकट हुए हैं और प्रकृति आत्मा का आलम्बन लेकर ही इस गुणप्रक्रिया का संचालन करती है। वेदशास्त्र इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि –

सर्वगे तु निराधारे चैतन्यात्मनि संस्थिता।
अविद्या द्विगुणां सृष्टिं करोति आत्मावलम्बनात्।।
गुणान्वितो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव यः चोपभोक्ता।
स विश्वरूपः त्रिगुणः त्रिवर्त्मा प्राणधिपः संचरति स्वकर्मभिः।।
द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे तु अनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढ़े।
क्षरं तु अविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते सोऽन्यः।।

अर्थात् परमात्मा की अविद्यारूपी माया ही प्रकृति है जो सर्वाधार, सर्वव्यापी परमात्मा के चैतन्यस्वरूप में स्थित होकर स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार की सृष्टि का निर्माण करती है। परमात्मा स्वयं जीवात्मा के रूप में मायाबद्ध होकर अनन्त रूपों तथा शरीरों में गुणात्मक संसार के विषयभोगों का भोक्ता बन गया है जैसेकि एक बुद्धिमान अभिनेता फिल्मों में कभी पागल तो कभी मूर्ख व्यक्ति की एक्टिंग करता है। **इसके प्रमाण हैं –**

कल्पयति आत्मनात्मानं आत्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदान् इति वेदान्तविनिश्चयः।।

(माण्डूक्य उप. 1/12)

जीवं कल्पयति पूर्वं ततो भावान् प्रथग्विधान्।
वाह्यान् आध्यात्मिकाश्चैव यथा विद्या तथा स्मृतिः।।

(माण्डूक्य उप. 1/16)

आत्मा वा इदमेकः एवाग्रे आसीत् नान्यत् किंचनम्।
इषत्सः ईक्षत लोकान्नुसृजाः।।

(ऐ. उप. 1/1)

अर्थात् सृष्टि की रचना से पूर्व केवल एक अक्षर ब्रह्म था उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था, वह कैसा था इस पर वेदवाणी का कथन है कि –

''परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वभाविकी ज्ञानवलक्रिया च ।।''

यानि उसमें योगमायारूपी अनन्त शक्ति तथा अनन्त ज्ञान, बल तथा क्रिया उसके स्वभाव में विद्यमान थी, अतः उसने सृष्टिनिर्माण का संकल्प किया, जीवों की उत्पत्ति के लिए प्राणादि अनन्त भाव त्रिगुणात्मिका प्रकृति के रूप में प्रकट किये, जीवात्माओं की बुद्धियों से तदाकारता कर मायिक भ्रान्तिजन्य भाव तथा भ्रान्ति की मुक्ति के लिए आध्यात्मिक भाव प्रकट कर अविद्या तथा विद्या के रूप में स्मृति–संस्कारों का विधान बनाया। सृष्टि का शासन तथा संचालन करने के लिए मायाधीश तथा सर्वज्ञ के रूप में योगैश्वर्य के साथ ईश्वर की उपाधि में अपने को प्रकट किया। यही वेदान्तशास्त्र का निष्कर्ष है। इस विधान में प्राण का विशेष महत्व है, क्योंकि देवताओं से लेकर सभी जीवात्मायें प्राणशरीर के रूप में वैसे ही अक्षरब्रह्म से प्रकट हुई हैं जैसेकि अग्नि से ज्वालायें प्रकट होती हैं। वेदशास्त्र का कथन है कि –

''प्राणः जनयति सर्वं चेतोंशून पुरुषः प्रथक्''

''प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवति एष आत्मा''

अर्थात् आत्मतेज से युक्त प्राणरूपी पुरुष (हिरण्यगर्भ) से ही समस्त जीवात्मायें इस प्रकार प्रकट हुई हैं जैसेकि एक ही आकाश से अनेक घटाकाश प्रकट हो जाते हैं। प्रत्येक चित्तरूपी घटाकाश प्राणशरीर से व्याप्त रहता है। जब तक चित्त में कामनाओं की चित्तवृत्तियों का आवरण रहता है तबतक वह जीवात्मा कहलाता है और जैसे ही इस आवरण का नाश होने पर चित्त विशुद्ध हो जाता है वैसे ही जीवभाव परमात्मभाव में विलीन हो जाता है। परमात्मा की मायावी लीला में पुरुष के तीन स्वरूप हैं। प्रथम कूटस्थ आत्मा जो अक्षर, अव्यय, सर्वव्यापी, सर्वाधार तथा चैतन्यस्वरूप है, द्वितीय जीवात्मा जो क्षर, कल्पित तथा प्रतिबिम्ब के समान कूटस्थ चैतन्यात्मा बिम्ब से सम्बन्धित है और तृतीय परमात्मा जो इस लीला का सूत्रधार,

नियन्ता, मायाधीश तथा जिसकी ज्ञानबलक्रिया स्वभाविकी शक्ति है। प्रथम तथा तृतीय स्वरूप विद्यावान हैं, तथा द्वितीय स्वरूप अविद्यावान है। यह संसार जीवों की सांसारिक इच्छाओं की प्रतिमूर्ति है। सांसारिक इच्छाओं का अर्थ है जीवों के चित्तों में मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के तुष्टिकरण के लिए उत्पन्न होने वाली भावनायें यानि संकल्प–विकल्प। इन्हीं इच्छाओं की पूर्ति के लिए आत्मा शरीर धारण कर जीवात्मा है तथा परमात्मा से भिन्न सुखी–दुःखी प्रतीत होती है। शास्त्र का कथन है कि –

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुलः।
स्वकाले सत्यवत् भाति प्रबोधे असत्यवत् भवेत्।।
यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः।
तथा जाग्रत्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः।।
कृतार्थं प्रति नष्टमपि अनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।
कामान् यः कामयते मन्यमानः सः कामभि जायते तत्र तत्र।।

अर्थात् यह संसार सांसारिक पदार्थों तथा अन्य शरीरधारियों में आसक्ति तथा द्वेष के कारण अविद्याजनित आवरण में उसी प्रकार सत्य भासित हो रहा है जिस प्रकार निद्रावरण में स्वप्न का संसार सत्य भासित होता है और जागृत का संसार स्मृति में नहीं रहता। निद्रा से जागने पर यानि निद्रावरण के नष्ट होने पर जागृत का संसार सत्य तथा स्वप्न का संसार मिथ्या हो जाता है। इसी प्रकार अविद्या के आवरण के नष्ट होने पर अविद्याजनित संसार मिथ्या तथा आत्मा का सत्य विज्ञानमय स्वरूप प्रकट हो जाता है। जिस प्रकार स्वप्न में माया के द्वारा हमारा मन ही मनोवृत्तिमय स्वप्न का संसार दर्शाता है, उसी प्रकार मायाशक्ति के द्वारा मन ही मनोवृत्तिमय जागृत जगत को दर्शाता है, क्योंकि सुषुप्ति में अथवा अचेतनावस्था में जब मन प्राण में लय हो जाता है तब यह संसार भी लुप्त हो जाता है। समाधि में ब्रह्मवेत्ताओं की दृष्टि में यह संसार लुप्त तथा जागृत स्थिति में मिथ्या यानि कल्पित रहता है। संसार में जन्म–मरण का आवागमन तभी तक रहता है जब तक चित्त कामनाओं से ग्रसित रहता है। भगवान श्रीकृष्ण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि –

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजन्ते अन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।

अर्थात् जीवात्मा शरीर त्यागते हुए जिन–जिन कामनाओं का चिन्तन करते हुए मृत्यु को प्राप्त होती है, वह उन्हीं के अनुकूल योनि को प्राप्त होती है। अतः जीवात्मा का कामनाओं के संस्कारों से स्वरूप जैसा सम्बन्ध है ठीक वैसा ही जैसा घटाकाश का घट से होता है। कामना तथा संकल्प एकरूप हैं और चित्त की संकल्परहित स्थिति में ही योगसिद्धि प्राप्त होती है, ऐसा भगवान श्रीकृष्ण का वचन है कि –

"सर्वसंकल्पसन्यासी योगारूढः तदुच्यते"
"योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते"
यदा विनियतं चित्तं आत्मन्येवावतिष्ठति।
निष्प्रहः सर्वकामेभ्यः युक्तः उच्यते तदा।।
प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञः तदुच्यते।।

अर्थात् जब साधक इन्द्रियों की विषयासक्ति पर नियन्त्रण करते हुए मन में कामनाओं को नहीं पनपने देता तथा बुद्धि पर नियन्त्रण करते हुए बुद्धि के विवेकज्ञान का प्रयोग कर मनोगत वृत्तियों को वैराग्य तथा एकाग्रचित्त की साधना करते हुए क्षीण कर लेता है तब उसकी बुद्धि निर्मल तथा निश्चयात्मिका होती जाती है। इस प्रकार नियन्त्रित किया हुआ चित्त आत्मचिन्तन में स्थिर तथा प्रकाशावरण से मुक्त होता जाता है और समस्त कामनाओं को त्याग कर शुद्ध सतोगुण के प्रकाश में आत्मानन्द का अनुभव करने लगता है। इस स्थिति की परिपक्वता पर संकल्परहित चित्त योगारूढ़ होने लगता है। योगारूढ़ चित्त वाला साधक युक्तयोगी कहलाता है और वही परम शान्ति का अधिकारी होता है। उसकी हृदयस्थ सभी कामनायें नष्ट हो जाती हैं। इसीलिए जिसने सभी संकल्पों को सदैव के लिए त्याग दिया है ऐसा सर्वसंकल्पसन्यासी ही युक्तयोगी है। सांसारिक व्यवहार में भी वह कर्म करता हुआ भी अकर्ता रहता है, क्योंकि –

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
कर्मणि अभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः।।

अर्थात् जिसके सभी कर्म रजोगुणी कामप्रेरणा से वर्जित हैं, वह कर्म करता हुआ भी अकर्ता है, क्योंकि उसके चित्त में न तो कोई अहंभाव है और न कर्मफलासक्ति। कर्म गुणात्मक हैं और योगारूढ़ योगी गुणातीत होता है अतएव वह उसमें लिप्त नहीं होता। जीवात्मा के चित्त में सुखदुःखादि के द्वन्द तथा जीवभाव की भ्रान्ति गुणों का परिणाममात्र है जैसा कि भगवान श्रीकृष्ण स्वयं इसकी पुष्टि करते हैं–

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखं अज्ञानं तमसः फलम्।।
सत्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभः एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवति अज्ञामेव च।।
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्थाः अधो गच्छन्ति तामसाः।।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।

अर्थात् कर्म की प्रक्रिया भी गुणात्मक है और कर्मफल भी गुणात्मक होते हैं। पुण्यकर्मों का फल सात्विक होता है जिससे चित्त में सुखानुभूति तथा ज्ञान का प्रकाश होता है। पापकर्म रजोगुणी होते हैं जिनका फल दुःखानुभूति होता है तथा तमोगुणी कर्म प्रमाद, आलस्य, भ्रान्तिज्ञान, मोहासक्ति तथा अज्ञानमूलक परिणाम देते हैं। गुणों के प्रवाह में मन में भावनाओं का उदय होता है और वही भावनायें बुद्धि ग्रहण करती है जोकि आत्मा के प्रकाश से चित्तवृत्ति के रूप में चित्त में प्रकाशित होती हैं। सांसारिक ज्ञान की यही प्रक्रिया है। गुणों के प्रवाह का कर्मफल के अनुसार गुणक्रम में प्रभाव होता है जैसा कि भगवान श्रीकृष्ण का कथन है कि –

रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा।।

अर्थात् गुणक्रम में कभी सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण पर, कभी रजोगुण, सतोगुण तथा तमोगुण पर और कभी तमोगुण, सतोगुण तथा रजोगुण पर अधिक प्रभावी होता है। यह मायिक प्रक्रिया प्रतिक्षण कार्यरत रहती है। अतःएव संसार का प्रत्येक पदार्थ गुणों का क्रमपरिणाममात्र है। इसका विश्लेषण करना बुद्धि की सामर्थ्य से बाहर लगता है, क्योंकि बुद्धि स्वयं इसका कार्य है यानि गुणात्मक है। संसार का प्रत्येक पदार्थ सूक्ष्म अथवा स्थूल तथा प्रत्येक कार्य प्रकृति की इसी गुणात्मिका प्रक्रिया का परिणाम है। जीवात्मा बुद्धि के साथ तदाकारता के कारण अपने को अज्ञानवश कर्ता समझ लेती है। यही मिथ्या अहंभाव मायिक बन्धन का मूल कारण है। मृत्यु के समय भी चित्त में जैसी भावनायें बलवती होती हैं उन्हीं के अनुकूल जीव की गति होती है। सात्विक भावनाओं के कारण दिव्य लोकों में गति होती है, रजोगुणी भावनाओं के कारण मनुष्यलोकादि मध्यलोकों में गति होती है तथा तमोगुणी भावनाओं के कारण नरकादि अधोलोकों तथा पापयोनियों में गति होती है। शास्त्र का कथन है कि –

''अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्''
''प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः''

अर्थात् प्रत्येक प्राणी अपने कर्मों के आधीन आवागमन करता है, क्योंकि प्रत्येक जीवात्मा माया के वशीभूत अपने अहंभाव में किये गये पुण्यकर्मों तथा पापकर्मों का फल क्रमशः सुखानुभूति तथा दुःखानुभूति के रूप में अवश्य करती है। यह कर्म अनुकूल योनि में प्रारब्ध के रूप में फलदायी होते हैं। इच्छा से कर्म में प्रवृत्ति होती है, इच्छा से लोकान्तरगमन होता है। भगवान श्रीकृष्ण इसकी पुष्टि करते हैं –

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गगतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकं अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः गतागतं कामकामाः लभन्ते।।

अर्थात् जीवात्मायें वेदविधान के अनुसार यज्ञादि साधन तथा तपस्यादि पुण्यकर्मों से अपने अन्तःकरण को पवित्र करते हुए परमात्मा से स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करती हैं उन्हें पुण्यकर्मों के फलस्वरूप स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है जहाँ वह देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं। पुण्यकर्मों का भुगतान होने के बाद उनके पुण्य क्षीण हो जाते हैं तब वह प्रकृति के विधान के अनुसार मनुष्यलोक में जन्म लेते हैं। इस प्रकार पुण्यकर्म, पापकर्म तथा मिश्रित कर्मों के फलस्वरूप कर्मबन्धन में फँसी जीवात्मायें जन्म–मृत्यु के आवागमन में विवश होकर भ्रान्तिजनित सुखः दुःख की दलदल में फँसी रहती हैं। भगवान श्रीकृष्ण स्वरूप जीव की इस विवशता को स्वीकार करते हैं कि –

स्वभावजेन तु कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छति यद्मोहात् करिष्ये अवश्योऽपि तत्।।

अर्थात् जीवात्मा स्वभाव से निर्धारित अपने प्रारब्धकर्मों से बंधी हुई विवश होती है। अतः यदि अज्ञानवश अपने अहंकार से किसी कर्म को करना नहीं चाहती तब भी उस प्रारब्धकर्म को करने के लिए प्रकृति उसे विवश कर देती है। यह प्रकृति का नियम है। इच्छामात्र से संसार कैसे बनता है, कैसे सत्य भासित होता है, पुनः मिथ्या हो जाता है, और फिर पुनः बनता–बिगड़ता रहता है, यह एक महान आश्चर्य है। इस शंका के समाधान में हमारे ज्ञान में स्वप्न – संसार का उदाहरण है कि –

स्वप्नेन शरीरमभिप्रहत्य असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
शुक्रमादाय पुनः ऐति स्थानं हिरण्मयः पुरुषः एकहंसः।।
विकरोत्यपरान् भावान् अन्तश्चित्ते व्यवस्थितान्।
नियतांश्च बहिश्चित्ते एवं कल्पयते प्रभुः।।
लोकानां व्यवहारार्थमविद्या इयं विनिर्मिता।
एषा विमोहनी इत्युक्ता द्वैताद्वैतस्वरूपिणी।।

अर्थात् परमात्मा ने लोकलीला के लिए ही इस भ्रान्तिरूपा माया को प्रकट किया है। यह माया अविद्याजनित द्वैतस्वरूप से मनोवृत्तिमय जगत को प्रकट करती है तथा विद्यामय अद्वैतस्वरूप से परमात्मा का साक्षात्कार कराती है। जिस प्रकार स्वप्न संसार के द्वारा प्राणशरीर के रूप में जीवात्मा शरीर के सभी अंगों को निश्चेष्ट कर अन्तःकरण में सुप्त संस्कारमय वृत्तियों को जागृत कर उन्हें दृश्य का रूप देती है जैसे कि प्रकाशकिरणें फिल्मों के दृश्य पर्दे पर दिखाती हैं। माया के आवरण में जीवात्मा रूप दृष्टा स्वप्न के संसार को सत्य मानकर सुखी–दुःखी भी होता है किन्तु वही पुनः शरीर के अंगों को चेतन कर जागृत संसार में

लौट आता है और तब स्वप्न का संसार मिथ्या तथा जागृत का संसार सत्य हो जाता है। परमात्मा की माया की विलक्षणता देखिये कि एक ही दृष्टा दोनों विरुद्ध संसारों का साक्षी तथा दृष्टा है अन्यथा मिथ्यात्व तथा सत्यत्व की पुष्टि कैसे सम्भव है? इसीलिए दृष्टा ज्योतिस्वरूप तथा निद्रामुक्त एवं स्वयं प्रकाशवान है। निद्रा का कारण तो मन का प्राण में लय होना है। यह तो परमात्मा की माया का विधान है कि अन्तश्चित्त में भावनात्मक वृत्तिविकार स्वप्न का दृश्य बनाते हैं तथा प्रारब्धकर्म के भोगफलात्मक विकार जागृत संसार का दृश्य बनाते हैं। दोनों संसारों में अन्तर यह है कि जागृत संसार के पुरुषार्थात्मक कर्म कर्माशय में संचित होते हैं। हमारे शरीर में हमारा मन ही माया का प्रतिनिधित्व करता है, इसीलिए वेद का श्रुतिवचन है कि –

मनः एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मोक्षाय निर्विषयं मनः।।
मनोदृष्टमिदं सर्वं यत्किंचित सचराचरम्।
मनसो हि अमनीभावे द्वैतभावं न समुपद्यते।।
यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः।
तथा जागृद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः।।

अर्थात् मनुष्यों का मन ही मायिक बन्धन अथवा मायापाश से मुक्ति का कारण होता है, क्योंकि विषयभोगों में आसक्त मन जन्म–मृत्यु का कारण बनता है तथा इन इन्द्रियभोगों से पूर्णरूपेण विरक्त मन ही संकल्प–विकल्पों से मुक्त होकर योगी को योगारूढ़ बनाकर मोक्ष का कारण बनता है। यह सम्पूर्ण जगत जोकि जड़ तथा चेतन पदार्थों के दृश्यों का स्वरूप है वह मनोवृत्तियों के द्वारा ही अनुभव किया जाता है। अतः मनोवृत्तियों के नितान्त निरोध हो जाने पर उस योगी के लिए नष्ट तथा अस्तित्वहीन हो जाता है, केवल अज्ञानी मनुष्यों को ही इस संसार का अस्तित्व प्रतीत होता है। यह सम्पूर्ण द्वैतसृष्टि माया के द्वारा मन की कल्पनामात्र है जैसा कि स्वप्न का संसार होता है। यदि मन संकल्प–विकल्प से मुक्त होकर निर्मल चित्त हो जाय तब इस जागृत की द्वैतसृष्टि भी लुप्त हो जाती है और सर्वत्र अपना अद्वैत स्वरूप ही अनुभव में आता है ठीक उसी तरह जिस तरह अंधकार के कारण रज्जु में सर्पभ्रान्ति प्रकाश हो जाने पर स्वतः लुप्त हो जाती है। किन्तु जब तक मन में कामना का कोई भी संस्कार विद्यमान है तब तक चित्त निर्मल नहीं होता। चित्त को निर्मल बनाने के लिए शास्त्रोक्त उपायों की आवश्यकता होती है। वस्तुतः सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिए माया कर्मबन्धन का जाल बुनकर उसमें पंचक्लेशादि के गुणबन्धन के द्वारा विषयानन्द के आकर्षण से जीवात्माओं को फँसाकर रखती है। कर्माशय रूपी रेगिस्तान में नित्यानन्द रूपी जल की खोज में भटकती जीवात्माओं के लिए विषयानन्द मृगतृष्णा है। माया के इस कर्मबन्धन से मुक्ति का एक ही शास्त्रोक्त उपाय है कि –

मुक्तिमिच्छसि तात् चेद् विषयान् विषवत् त्यज।
क्षमार्जवदयातोषं सन्तोषं पीयूषवत् पिब।।

यदि देहं प्रथक्कृत्य चिदि विश्रम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखीशान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि।।
आरम्भ कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान् विनियोजयेत् यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्वतोऽन्यः।।

अर्थात् हे प्रिय जीवात्मन् यदि तुम मायिक कर्मबन्धन से मोक्ष चाहते हो तो सर्वप्रथम अपनी निश्चयात्मिका बुद्धि से विषयानन्दरूपी विषपान करना बन्द करो, क्योंकि भूख से व्याकुल मूर्ख व्यक्ति भी मृत्यु के भय से विषमिश्रित दूध का पान नहीं करता और यह विषयानन्द का विष तो अनन्त जन्मों की मृत्यु का कारण है। यदि तुम अमरत्व चाहते हो तो क्षमा, आर्जवता, दया तथा सन्तोषादि दैवी चित्तवृत्तियों का अमृतपान करो। इस प्रकार निर्मल चित्त में अपने को बुद्धिबोधात्मक स्वरूप को त्यागकर सच्चिदानन्दरूपी सत्यस्वरूप में स्थित हो जाओ तो अभी परम सुखी तथा शान्त स्वरूप को जानकर मायिक कर्मबन्धन से मुक्त हो जाओगे। इस उपाय को क्रियान्वित करने के लिए कर्मयोग का आश्रय लेना होगा यानि गुणात्मक कर्मों में कर्तापन की भ्रान्ति त्याग कर फलासक्ति से मन को मुक्त कर सभी मायिक भावों तथा कर्मों को अनन्यभक्ति के द्वारा परमात्मा को अर्पण कर देना चाहिए ताकि अविद्याजनित भावों के अभाव में कर्माशय तथा अविद्यादि क्लेशों के नष्ट होने पर अन्तःकरण में स्वयंप्रकाशी परमात्मा प्रकट हो सके।

●●●

"जैसे कच्चे बाँस को आसानी से झुकाया जा सकता है, पर पक्का बाँस जबरदस्ती झुकाया जाने पर टूट जाता है। वैसे ही युवकों का मन सरलता से ईश्वर की ओर ले जाया जा सकता है। परन्तु बड़े–बूढ़ों के मन को उस ओर झुकाने की कोशिश करने पर वे भाग खड़े होते हैं।"

— रामकृष्ण परमहंस

स्वास्थ्य

योग-आसन

भद्रासन

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितौ।

पादाङ्गुष्ठे कराभ्यां च धृत्वा पृष्ट देशत:।।

जालन्धरं समासाद्य नासाग्रम–वलोकयेत।

भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशकम्।।

विधि – अपने पैरों की दोनों ऐड़ियों को अण्डकोशों के नीचे उलट कर रखें इसके बाद अपने हाथों को पीठ की तरफ से घमुाकर दोनों पैरों को उलटकर आये हुए अंगूठों को पकड़ें (दायें पैर के अंगूठे को बायें हाथ से व बायें पैर के अंगूठे को दाहिने हाथ से पकड़ें) इसके पश्चात् जालन्धर बन्ध लगाकर (अपनी ठोड़ी को छाती में लगाकर) नासाग्रभाग को देखें। इसी का नाम भद्रासन है।

समय – यह आसन कुछ कठिन है,पहले अभ्यास करने वालों के लिए तो असम्भव सा ही है, फिर भी अभ्यास से सभी कुछ सम्भव है। अत: इस आसन का अभ्यास करने वाले साधकों को यह पहले 10 सैकन्ड या शरीर के बलाबल को देखकर 20 सैकन्ड से आरम्भ करें। उसके बाद पाँच–पाँच सैकन्ड प्रतिदिन बढ़ाते हुए घण्टों तक ले जा सकते हैं। किन्तु व्यायाम दृष्टि वालों के लिए अधिक से अधिक दो मिनट प्रतिदिन का अभ्यास ही ठीक रहेगा।

फल – यह आसन शरीर में दृढ़ता देता है। सम्भवत: यह सभी प्रकार की व्याधियों का नाश करने वाला है, कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करता है।

श्री कुशेनद्रपाल को जीवन दान

– जगदीश राए बंसल ''अधम'', नई दिल्ली, मो. : 9212434003

दोहा – लेखक नहीं लेख लिखूं – गुरुवर मैं अनजान।
जग हंसाई हो रही – अब संम्भालो अपनी कमान।।

अपने सिद्ध योग आश्रम सवाई धाम में आने वाला प्रत्येक प्राणी बहुत ही भाग्यशाली है और जिन्होंने अपने आराध्यदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज की चरण शरण ली हुई है उसके भाग्य का तो कहना ही क्या। क्योंकि यहाँ आगन्तुक को न केवल देवाधिदेव महादेव, अखिलात्मा भगवान श्री कृष्ण और अकारण दयालु महाप्रभू श्री रामलाल जी महाराज एवं अखण्ड मण्डलाकार सिद्धों के सरदार गुरु श्री चन्द्रमोहन जी महाराज की विचित्र लीलाओं के विषय में बतलाया जाता है, बल्कि उस भाग्यशाली को वैसा सिखाया और बनाया भी जाता है। आपको याद दिलाता चलूं कि भगवान के अवतार यूं ही भूतल पर पग नहीं रखते अपितु अपने संस्कारी बच्चों को इस मिथ्या संसार से अपनी ओर आकर्षित करके उसकी जीवन दशा एवं दिशा ही बदल देते हैं। या यों कहिए कि उसको योग मय जीवन जीने की कला प्रदान कर देते हैं। यह बात भले ही किसी साधक की समझ में आवे अथवा न आवे। किसी गुरु भक्त ने कहा भी है कि –

माली चुनता फूल जिस तरह – फूलों भरी कतार से।
निज बच्चों को आप खैंचते – भीड़ भरे संसार से।।

प्रस्तुत लेख में एक इसी प्रकार का कृपा प्रसंग है जो अपने श्री गुफा सवाई धाम से पूर्ण निष्ठा रखने वाले, आराध्यदेव जी के विशेष कृपा पात्र अट्ठावन वर्षीय आदरणीय गुरु भाई श्री **कुशेन्द्र** पाल जी से सम्बन्धित है। मूल रूप से ये भाई जी उत्तरप्रदेश में काशी राम नगर के **अन्तर्गत** बेरी के स्थाई निवासी हैं। योग योगेश्वर गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज की चरण **शरण में** समर्पित यह निष्ठावान भक्त भगवान श्री कृष्ण जन्म अष्टमी के उपरान्त होने वाली छुट्टी के शुभ अवसर पर दो सितम्बर 2013 को सवाई धाम पधारे और अगली प्रातः तीन सितम्बर को यह प्रसंग वर्णन किया। जो उन्हीं की तरफ से लिखने का प्रयत्न किया जा रहा है। श्री पाल जी ने बतलाया कि –

यह जीवन रक्षक कृपा सन् 1987 की है। उस समय मैं पिछले लगभग दस वर्षों से अस्वस्थ चल रहा था। अच्छे से अच्छे चिकित्सकों से उपचार लेते लेते हार चुका था। दूर्दशा यह हो चली थी कि शरीर की हड्डियां बाहर झांकने लगी थी – एक आंत डैड हो चुकी थी – लिवर अपना काम करना छोड़ चुका था। परिणाम यह हुआ कि कुछ भी खाते ही तुरन्त शौच को जाना पड़ता था। पेट और सारे बदन में पीड़ा रहती थी। आर्थिक दृष्टि से भी खोखला हो चुके थे।

स्पेयर पार्ट्स, दुकान, घर के गहने आदि सब बीमारी की भेंट चढ़ चुके थे। डॉक्टरों ने लाइलाज घोषित कर दिया था। तात्पर्य यह है कि स्वास्थ्य की क्षीणता के कारण जीवन नारकीय एवं दुखदायी हो गया था। मेरे जीवन जीने की कोई किरण नजर नहीं आ रही थी। लेकिन जाको राखे साईयां मार सके ना कोए या यौं कहिए कि –

आ गई लहर शिवा के मन में

गुरुदेव भगवान ने संयोग कुछ ऐसे बनाया कि मेरी एक पुज्यनीय मौसी जी को कहीं से इस अध्यात्मिक आश्रम की 'जीवन द्वत्व साधन' नामक एक पुस्तक हाथ लग गई। इसी कृपा से आकर्षित हो कर हम निराश, हताश और अनमने मन से अपने कष्ट निवार्णार्थ इस संकट मोचक आश्रम में आ पहुंचे। मेरी बीमारी के अनुकूल हमें जनसुविधा युक्त छः नं. कमरा दियागया। मेरी हालत यह थी कि –

इस द्वारे का पिंजरा–तामें पंछी कौन।
रहे को अचरज है – गए अचम्भा कौन।।

अर्थात् – (कबीर जी के शब्दों में) इस दस द्वारे के पिंजरे में आत्मा के रहने से अचम्भा है और न रहे तो अचम्भा नहीं। ऐसी हालत थी। सर्वप्रथम मेरी पत्नि को गुरुदेव भगवान से साक्षात्कार का अवसर मिला। उसने अपने बचे खुचे आंसुओं की मनुहार एवं दुख दर्द की व्यथा श्री चरणों में निवेदित कर डाली। गुरुदेव भगवान ने अपने मुखारविन्द से मेरी धर्मपत्नि को सान्तवना देते हुए कहा कि लल्ली तुम शान्त हो जाओ, घबराने की कोई आवश्यकता नही है। श्री प्रभू जी सब ठीक करेंगे और ततपश्चात् मुझ दीन हीन को भी अपने पास बुलवा लिया। एक बात बता दूं, मेरा भाग्य भले ही छोटा हो परन्तु मेरी अभिलाषाएँ बड़ी–बड़ी हैं।

मैं श्री चरणों में प्रणाम करके बैठ गया। उस समय तारणहार ने जिस दिव्य दृष्टि से मेरी तरफ देखा जो मुझसे कहा– जो मधुमुस्कान मुझ पर डाली, जो शक्तिपात मुझ पर किया – वह कहना तो मेरी वाणी से बाहर की बात है। ततपश्चात् गुरुदेव भगवान ने आदरणीय ब्रह्मचारी श्री वाजपेई जी को बुला करआदेश दिया कि इसको ले जाओ और रसोई घर से प्रसाद खिला दो। आपको बताऊँ कि अब तक मुझे रोटी सब्जी के नाम से ही घृणा आ जाती थी और जैसे तैसे कुछ खा भी लेता तो शीघ्रातिशीघ्र शौच को जाना पड़ता था। मगर आज ये प्रथम अवसर था कि इस रसोई से जो मोहन भोग मुझे नसीब हुआ, वह सारा खा पाया। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि कुछ भी विपरीत प्रभाव नहीं हुआ। भोजन तो हजम हो ही गया, साथ–साथ उदर पीड़ा व शरीर पीड़ा भी शान्त हो गई। ओह! कितने समय पश्चात् मैंने यह राहत पाई। एक क्षण सोचता हूँ कि क्या यह मेरा स्वप्न है? नहीं ...नहीं, मैं होश हवास में हूँ और आपकी पत्नी से बात कर रहा हूँ। पुनः विचार आया कि क्या सच में मुझे आराम है? हाँ ...यही सच है और नेत्रों से बदरिया बरसने लगी। भक्त कबीर जी लिखते हैं –

तीर्थ गए ते एक फल– सन्त मिले फल चार।
सतगुरु मिले अनेक फल – कहे कबीर विचार।।

श्रीकुशेन्द्र जी ने आगे बतलाया कि बाबूजी ! हम डेढ़ माह तक योग गंगा में गोते लगाते रहे त्रयलोक पावन द्वारा शक्ति पात एवं स्वयं नारायण महाप्रभू के जीवन तत्व साधनों से मैं पूर्णतया स्वस्थ हो गया। दया सागर ने मुझे चन्द्रमा जैसा चमका दिया। और इसी अवधि के मध्य प्रातः स्मृणनीय अन्तर्यामी जी ने हमें योग दीक्षा दे कर भी भाग्यशाली बना दिया। श्रीमान जी क्या–क्या बतलाऊँ, यहीं आश्रम में रहते एक दिन मेरे चार साल के सुपुत्र प्रिय आनन्द की टांगे टेढ़ी हो गई। हम बहुत घबराए कि अब क्या करें? यह बालक पहले ही सिर से गंजा है। फिर यकायक अपनी भूल को सुधार किया कि गंगा तट पर कोई प्यासा कैसे? अतः हम दया निधि के श्री चरणों का स्मरण कर अपने सुपुत्र आनन्द सहित, तुरन्त गुरु दरबार में उपस्थित हुए। हम हर दिन देखते ही थे कि कलिकाल अवतारी गुरुदेव जी महाराज किसको रज प्रसाद देकर–किसी को पुष्प प्रसाद दे कर किसी–किसी को दृश्य व संकल्प से और किसी को स्पर्श मात्र से अपनी सिद्धयोग निधि को दोनों हाथों बराबर लूटा रहे हैं। इसी प्रकार आज प्रिय आनन्द को लाड़ प्यार दुलार करते–करते हंसते–हंसाते स्पर्श मात्र से स्वस्थ कर दिया। उसके सिर पर अपने बरद हस्त द्वारा कृपासागर ने ढेरों आशीर्वाद दिए कि हमारी झोली ही छोटी पड़ गई। हमको लगता है कि उन्हीं आर्शीवादों से प्रिय आनन्द का गंजापन भी ठीक हो गया। कुछ समय बाद ही सुन्दर–सुन्दर कोर–कोर बाल उग आए।

ऐसे कल्पतरू सिद्ध योगाधिपति गुरुदेव महाराज जी का गुणगान करने में किसकी सामर्थ्य है? स्वयं माँ शारदा भी पूरा बखान नहीं कर सकती। सिद्धों के सम्राट का यह ऐसा दरबार है जिसका कोई सानी नहीं है। किसी गुरु प्यारे ने मेरे दिल की बात कही है कि –

गुरुदर पै हमें सुकून मिलता है
इनकी प्राथर्ना से हमें नूर मिलता है।

जो भा गया सरकारकी नजरों में
उसे सब कुछ जरूर मिलता है।।

लीलाधारी के श्री चरणों में यही चाहता हूँ कि मैं जिस हालतमें उस दिन यहाँ आया था उसको ना भूल सकूं और बार–बार यही गाता रहूँ–

धन्य हुआ गुरुदेव मैं तोधन्य हुआ
आ कर संवाई धाम माला माल हुआ
बीमारी से मेरी मुक्ति कर दी

दया दृष्टि से शक्ति भरदी
जय सिद्धों के सरदार मैं तो धन्य हुआ
धन्य हुआ...
गुरु जी मेरे परब्रह्म हो
श्री कृष्णा और शिव शंकर हो
जय कलिकाल अवतार मैं तो धन्य हुआ
धन्य हुआ..........

जब जब हम तुमको पुकारें
तब तब हमारे कष्ट निवारें
प्रभू राम के लाल मैं तो धन्य हुआ
धन्य हुआ .....

● ● ●

''पका हुआ साबुत आम भगवान के भोग में और अन्य सभी कामों में आ सकता है। पर वह कौए के द्वारा ठुनका हुआ हो तो किसी काम में नहीं आता। ऐसा दागी फल न तो देवता के भोग में चढ़ता है, न ब्राह्मण को दान दिया जा सकता है और न स्वयं के खाने के काम में लाया जा सकता है। इसलिए पवित्र हृदय बालकों और युवकों को धर्ममार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करना चाहिए। उन्हें भगवान की सेवा में लगाना चाहिए, क्योंकि उनके मन में विषय वासना की कालिमा नहीं लगी होती। अगर मन में एक बार विषय बुद्धि प्रवेश कर जाए या विषय भोग रूपी विकट राक्षस की विकराल छाया पड़ जाए, तो फिर उसे परमार्थ पथ पर ले जाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।''

— रामकृष्ण परमहंस

ज्ञानी के लिए प्रारब्ध नहीं रह जाता

हे महामते! निरन्तर प्रयत्न करके आत्मा के स्वरूप को जानकर उसी के चिन्तन में अपना समय व्यतीत करो; समस्त प्रारब्ध कर्मों के भोगों को भोगते हुए तुम्हें उद्विग्न नहीं होना चाहिए। आत्मज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध स्वयं नहीं छोड़ता। परंतु जब तत्वज्ञान का उदय होता है, तब ज्ञानी की दृष्टि में प्रारब्ध कर्म का उसी प्रकार अभाव हो जाता है, जिस प्रकार स्वप्नलोक के देहादिक असत् होने के कारण जागने पर नहीं रह जाते। जन्मान्तर के किये हुए जो कर्म हैं, वे ही प्रारब्ध कहे गये हैं। परंतु ज्ञानी के लिए तो जन्मान्तर भी नहीं है। अत: उसके लिए कभी भी प्रारब्ध नहीं रहता। जिस प्राकर स्वप्नकालीन देह देह नहीं होती, अध्यासमात्र होती है, उसी प्रकार यह जाग्रत्–काल का शरीर भी अध्यासमात्र है। अध्यस्त पदार्थ की उत्पत्ति कहाँ होती है। और जिसकी उत्पत्ति नहीं हुई, उसकी स्थिति कहाँ! (जैसे रज्जु में सर्प का अध्यास होने पर रज्जु में सर्प नहीं पैदा होता और न वहाँ सर्प की स्थिति ही होती है।) इस प्रपंच का उपादान कारण आत्मा है, जिस प्रकार मिट्टी के पात्रों का उपादान कारण मिट्टी है। वेदान्त के अनुसार यह प्रपंच अज्ञान के कारण आत्मा में भासता है; यदि अज्ञान नष्ट हो जाय तो विश्व की विश्वता कहाँ रहेगी। जिस प्रकार भ्रम से मनुष्य रज्जुबुद्धि का त्याग करके उसे सर्पबुद्धि से ग्रहण करता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष सत्य (आत्मा) का ज्ञान न होने के कारण प्रपंच को देखता है।

जब सामने रस्सी के टुकड़े को अच्छी तरह पहचान लेने पर जैसे उसमें प्रतीत होने वाला सर्परूप नहीं रह जाता, उसी प्रकार अधिष्ठानस्वरूप आत्मा का ज्ञान होने पर जब प्रपंच भी शून्यता को प्राप्त हो जाता है, तब देह भी प्रपंच रूप ही होने के कारण उसके साथ ही शून्यता में परिणत हो जाता है। उस अवस्था मे प्रारब्ध की स्थिति कैसे रह सकती है। अज्ञानीजनों को समझाने के लिए प्रारब्ध की बात कही जाती है। तदनन्तर कालवश ही प्रारब्ध के नष्ट हो जाने पर प्रणव और ब्रह्म की एकता के चिन्तन से नादरूप में साक्षात् ज्योतिर्मय, शिवस्वरूप परमात्मा का आविर्भाव होता है–ठीक वैसे ही, जिस प्रकार मेघ के दूर हो जाने पर सूर्यनारायण प्रकाशित हो उठते हैं। योगी सिद्धासन से बैठकर वैष्णवी मुद्रा धारण करके दाहिने कान के भीतर उठते हुए नाद (अनाहत ध्वनि) को सदा सुनता रहे। इस प्रकार अभ्यास में लाया हुआ नाद वाह्य ध्वनियों का आवृत कर लेता है। इस प्रकार एक पक्ष अर्थात् अकार को जीतकर दूसरे पक्ष उकार को जीते और क्रमश: सम्पूर्ण प्रणव पर विजय प्राप्त कर तुर्यपद अर्थात् आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त होता है।।1–11।।

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सँवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________________

____

____

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।।

(कठोपनिषद् वल्ली 1/10)

जो परब्रह्म यहाँ है वही वहाँ परलोक में भी है जो वहाँ है वही यहाँ इस लोक में भी है वह मनुष्य मृत्यु से मृत्यु को अर्थात् बारंबार जन्म-मरण को प्राप्त होता है जो इस जगत् में उस परमात्मा को अनेक की भाँति देखता है।

संस्थापक :- योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566.
सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दासलाल शर्मा